जैन तत्त्व प्रश्नोत्तरी



संपादन
कन्हैयालाल लोढ़ा



प्रकाशक :
सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल, जयपुर

☐ पुस्तक
जैन तत्त्व प्रश्नोत्तरी

☐ सम्पादन
कन्हैयालाल लोढा

☐ प्रकाशक
सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल
बापू बाजार,
जयपुर–३०२००३

☐ प्रथम संस्करण १९८४
द्वितीय संस्करण १९८९

☐ मूल्य—पांच रुपये

☐ मुद्रक
फ्रैण्ड्स प्रिण्टर्स एण्ड स्टेशनर्स
जौहरी बाजार, जयपुर–३०२००३

☐ पुस्तक
जैन तत्त्व प्रश्नोत्तरी

☐ सम्पादन
कन्हैयालाल लोढा

☐ प्रकाशक
सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल
बापू बाजार,
जयपुर–३०२००३

☐ प्रथम सस्करण १६८४
द्वितीय सस्करण १६८६

☐ मूल्य—पाच रुपये

☐ मुद्रक
फ्रैण्ड्स प्रिण्टर्स एण्ड स्टेशनर्स
जौहरी बाजार, जयपुर–३०२००३

प्रकाशकीय

समाज में स्वाध्याय संघों की स्थापना होने से स्वाध्याय करने का प्रचार-प्रसार बढ़ा है। जिससे स्वाध्याय प्रेमी बन्धुओं को एक ऐसी पुस्तक की आवश्यकता अनुभव होने लगी जिसमें जैन धर्म के सभी तत्त्वों का परिचय सरल, सुगम शैली मे सम्यक् प्रकार से हो। इस आवश्यकता की पूर्ति हेतु जैन तत्त्वज्ञ श्री कन्हैयालालजी लोढ़ा ने विशेष प्रयास किया और आचार्य श्री १००८ श्री हस्तीमलजी म. सा. के सान्निध्य में बैठकर प्रश्नोत्तर शैली में यह **'जैन तत्त्व प्रश्नोत्तरी'** पुस्तक लिखी। आचार्य श्री का इसमें मार्गदर्शन मिला। एतदर्थ मंडल आचार्य श्री एवं लोढ़ाजी का आभारी है। इसकी वहुत माँग आने से इसका द्वितीय संस्करण प्रकाशित किया जा रहा है।

मंडल समाज के सर्वसाधारण व साधक स्वाध्याय वधुओं की ज्ञानवृद्धि हेतु इस पुस्तक का प्रकाशन कर रहा है। उपाध्याय श्री पुष्कर मुनिजी के विद्वान् शिष्य श्री रमेश मुनिजी ने पुस्तक को ध्यान पूर्वक पढ़ा एवं प्रस्तावना लिखकर सहयोग प्रदान किया, उनके प्रति मंडल कृतज्ञता प्रकट करता है। श्री केवलमलजी लोढ़ा, डॉ० नरेन्द्र भानावत ने इसके परिष्कार मे अपना अमूल्य समय दिया, श्री सन्तोष चन्दजी वम्व ने पाँडुलिपि तैयार की तथा श्री पार्श्वकुमारजी मेहता ने प्रूफ शोधन में अपना योगदान दिया, एतदर्थ मंडल इन सब का आभारी है।

निवेदक :

देवेन्द्रराज मेहता
अध्यक्ष

चैतन्यमल ढढ्ढा
मंत्री

सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल, जयपुर

सम्पादकीय

जैन धर्म का तत्वज्ञान विशद व अति गहन है। इस पर अनेक विशाल काय ग्रंथ लिखे गये है, जिन्हे पढकर स्मरण रखने मे विशेष समय की अपेक्षा रहती है। इस दृष्टि से एक ऐसी पुस्तिका लिखने की आवश्यकता प्रतीत हुई जो बहुत बडी भी न हो और न उसमे आवश्यक तात्त्विक विवेचन भी आ जाय। प्रस्तुत पुस्तक इसी आवश्यकता की पूर्ति हेतु प्रश्नोत्तर शैली मे लिखी गई है।

यह पुस्तक परम श्रद्धेय आचार्य प्रवर श्री १००८ हस्तीमलजी म० सा० जयपुर वर्षावास मे विराजे तब प्रश्नोत्तर का क्रम चला, उन प्रश्नो का सकलन व सम्पादन कर प्रस्तुत पुस्तक तैयार की गई। इस पुस्तक मे जो कुछ विशेषता व उपयोगिता देखने मे आती है, वह सब आचार्य श्री की कृपा का ही परिणाम है। इसके लिये आचार्य श्री का मैं अति कृतज्ञ हूँ। श्री सम्यग्ज्ञान प्रचारक मडल ने इस पुस्तक का प्रकाशित किया, इसके लिये मैं मडल के प्रति आभार प्रकट करता हूँ।

प्रस्तुत पुस्तक मे जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आश्रव, सवर, निर्जरा, बध व मोक्ष इन नव तत्त्वो का प्रश्नोत्तर शैली मे सक्षेप मे वर्णन है। यह वर्णन स्वाध्यायी बन्धुओ की उपयोगिता का दृष्टि मे रखकर किया गया है। श्री रमेश मुनिजी ने इस पुस्तक को गहराई मे देखा एव तत्त्वो से सम्बन्धित अन्य विविध जानकारी से युक्त प्रस्तावना लिखने की कृपा की। आशा है, यह पाठको के लिये विशेष लाभदायी होगी।

प्रस्तुत पुस्तक स्वाध्यायी बन्धुओं को जैन धर्म के तत्त्वों की संक्षिप्त व सार रूप में जानकारी देने में जितनी उपयोगी सिद्ध होगी, मुझे उतनी ही प्रसन्नता होगी।

११ मई, १९८९

कन्हैयालाल लोढ़ा
अधिष्ठाता
श्री जैन सिद्धान्त शिक्षण संस्थान
साधना भवन, ए-९, महावीर उद्यान पथ
बजाज नगर, जयपुर ३०२ ०१७

प्रस्तावना

प्रत्येक दर्शन में तत्त्व का महत्त्वपूर्ण और आधारभूत स्थान है। तत्त्व का जीवन से और जीवन का तत्त्व से प्रगाढ़ और परस्पर सम्बन्ध है। तत्त्व का पारलौकिक क्षेत्र में महत्त्व है और तत्त्व लोक सापेक्ष भी है। वस्तु का भाव "तत्त्व" है। तत् और त्व से तत्त्व शब्द निष्पन्न हुआ है। "तत्" का अर्थ है—उस अथवा "वह"। यह सर्व-नाम "शब्द" है। जो निश्चित्त रूप से किसी संज्ञा अर्थात् वस्तु की ओर इंगित करता है उस पदार्थ का ही तत्त्व में महत्त्व है। तत् के साथ "त्व" प्रत्यय जुड़ जाने से "तत्त्व" का अभिप्राय हो गया है—उस पदार्थ का स्वरूप अथवा उस वस्तु का भाव अर्थात् किसी वस्तु के धर्म, गुण या क्रिया का परिचय ही तत्त्व है। तत्त्व की समीक्षा इस प्रकार भी हुई है—जो पदार्थ अथवा वस्तु अपने जिस रूप में विद्यमान है उसका उस रूप में होना ही तत्त्व है। प्रत्येक पदार्थ जो है—अर्थात् जिसका अस्तित्व स्वीकार्य है वह तत्त्व के अन्तर्गत परिगणित हो जाता है। किन्तु दर्शन इन मे से कतिपय को ही अपने अर्थ में तत्त्व रूप मे स्वीकार करता है।

तत्त्व का लक्षण "सत्" है। अथवा सत् ही तत्त्व है। अतएव वे स्वभावतः सिद्ध हैं। इस समूचे लोक में जो हैं, वह तत्त्व है और जो नहीं है, वह तत्त्व नहीं है। इतना स्वीकार कर लेना प्रत्येक अवस्था में यथार्थता के सन्निकट है, सर्वथा निरापद है। तथ्य यह है कि होना ही

तत्त्व है, नहीं होना तत्त्व नहीं ह। दाशनिका का क्षेत्र है—ग्रस्तित्व का विवेचन-विश्लेपण करना ग्रौर ग्रस्तित्वधारियों का वर्गीकरण करना। यही तत्त्वा का ग्रध्ययन है। इससे भी भिन्न ग्रर्थ ग्रौर स्वरूप मे तत्त्व शब्द लाक व्यवहार म प्रयुक्त होता ह। हम भी तत्त्व शब्द का प्रयोग जब सामान्य प्रसगो मे करते ह ता उसका प्रयोग साराश, मूल-भाग, वास्तविक स्थिति, यथाथ ग्रादि ग्रर्थो का सम्प्रेषण करता ह। तत्त्व का यह ग्रतीव व्यापक ग्रथ ह। ग्रथ की इस व्यापकता को ग्रहण करते हुए पारलौकिक प्रसगो मे भी दाशनिका ग्रौर मनीषी चिन्तको ने तत्त्वो का प्रतिपादन किया है। केवल ग्रन्तर यही ह कि लौकिक क्षेत्र मे तत्त्वो की जो सूची है वह पारलाकिक तत्त्वा से भिन्न है। इसमे केवल ग्रन्तर भौतिकता ग्रौर ग्राध्यात्मिकता का है। उदाहरणाथ-परमाथ, द्रव्य स्वभाव, पर-ग्रपर ध्येयादि को दाशनिको ने तत्त्व रूप मे स्वीकृत किया ह।

इसी सन्दम म ज्ञातव्य यह है कि—लाक-व्यवहार मे ग्रौर दाशनिको के चिन्तन मे तत्त्वो के स्वरूप की भिन्नता मिलती ह। ग्रलग-ग्रलग चिन्तनधाराग्रा मे भी तत्त्वा की भिन्नता पायी जाती है। भिन्न-भिन्न चिन्तनधाराग्रो के दाशनिको ने ग्रपनी-ग्रपनी दृष्टि से तत्त्वा का निरूपण किया है। तत्त्वो के इस प्रतिपादन के प्रधान ग्राधार पर ही विविध-दशनो मे पार्थक्य सा दृष्टिगोचर होता है ग्रौर इस प्रकार प्रत्येक दर्शन की ग्रपनी-ग्रपनी परम्परा विकसित होती चली गयी है।

जैन दशन मे भी ग्रन्य दशना की भाति तत्त्वो की भूमिका की महती प्रतिष्ठा रही है। प्रस्तुत दशन मे तत्त्व का परिबोध ग्रन्य ग्रनेक समानार्थक शब्दो के माध्यम स कराये जाने का समुल्लेख प्राप्त होता है। ग्रन्य ऐसे पर्यायवाची शब्दो मे प्रमुख है—तत्त्वार्थ, सत्त्व, पदाथ, ग्रर्थ, द्रव्य, सत् ग्रादि! इन सभी शब्दा का प्रयोग जैन दशन

में उसी अर्थ के परिबोध के लिये किया जाता है जिसके लिये अन्य दर्शनों में प्रायः तत्त्व शब्द भी प्रयुक्त होता है।

जैन-धर्म जैन-दर्शन के आधार पर संचालित होता रहा है और जैन दर्शन तत्त्वों के प्रमुख आधार पर चिन्तन-मनन के द्वारा रूपायित हुआ है, और समय-समय पर विकसित भी होता रहा है। इस तथ्य को नकारा भी नही जा सकता। अतएव धर्म के उदय के साथ ही दर्शन के उद्गम-उद्भव को और तत्त्वो की उपस्थिति को स्वयंसिद्ध तथ्य के रूप मे माना जाता है। जैन दर्शन में छः द्रव्यों का प्रतिपादन किया है। ये ही जैन दर्शन के आधारभूत तत्त्व है। वे द्रव्य ये है :

(१) धर्मास्तिकाय (२) अधर्मास्तिकाय
(३) आकाशास्तिकाय (४) जीवास्तिकाय
(५) पुद्गलास्तिकाय (६) काल

इन षट् द्रव्यों मे जीवास्तिकाय जीव है और पाँच द्रव्य अजीव हैं। इसी प्रकार पुद्गलास्तिकाय मूर्त्त है। इसके अतिरिक्त अवशेष द्रव्य अमूर्त्त है। काल द्रव्य को छोड़कर पाँचों द्रव्य अस्तिकाय है। अस्तिकाय रूप में जैन दर्शन का यह तात्त्विक-निर्धारण सर्वथा मौलिक है। जैन-दार्शनिक-चिन्तन की विशिष्ट अवधारणा है। यह एक ज्ञातव्य तथ्य है।

प्रत्येक दर्शन में तत्त्वों का आधारभूत महत्त्व है। यह स्वीकार करते हुए इतना अवश्य मानना होगा कि समस्त दर्शनों में तत्त्व का स्वरूप भिन्न-भिन्न है। सभी दर्शनों में तत्त्वो की समान सत्ता और महत्त्व नही है। हाँ, जैन दर्शन में तत्त्व की जो गरिमा है वह वास्तव में अपरिमेय रूप में स्वीकार्य समझी गयी है। जैन दर्शन में मूल्य-

मीमांसा और वस्तु-मीमांसा इन दोनों ही दृष्टियों से तत्त्वों का वर्गीकरण हुआ है। वस्तु-मीमांसा की अपेक्षा से पचास्तिकाय और काल का निरूपण हुआ है और मूल्य-मीमांसा की दृष्टि से नव तत्त्वों के सम्बन्ध में सविस्तृत विवेचन हुआ है। इस दर्शन के अभिमतानुसार तत्त्व समूचे लोक-व्यवस्था का मूलभूत आधार है। जहाँ लोक का अस्तित्व है वहा अलोक की स्थिति भी सापेक्षता के साथ अवश्यम्भावी है। अलोक की अनुपस्थिति मे लोक का अस्तित्व ही सदिग्ध रहेगा। लोक और अलोक का सह अस्तित्व एक अडिग तथ्य है। जहाँ लोक है, वहाँ अलोक अवश्य है। लोक ससीम है, निश्चित रूपेण विस्तार युक्त है। इसके विपरीत अलोक असीम है। अमर्यादित रूप से विस्तीर्ण है। इस तथ्य के साक्ष्य जैन साहित्य मे सुलभ ह। लोकाकाश के असख्यात प्रदेश है। वह चौदह रज्जू परिमाण युक्त है। जबकि अलोक परिमाण रहित है। लोक द्रव्य की अपेक्षा से सान्त है, क्योंकि वह सख्या मे एक है। क्षेत्र की दृष्टि से लोक सान्त है, क्योंकि समूचे आकाश मे से एक भाग विशेष ही लोक है। काल की दृष्टि से लोक अनन्त है क्योंकि कोई काल ऐसा नही है जब लोक का अस्तित्व न हो। भाव की दृष्टि से लोक अनन्त है क्योंकि लोक द्रव्य का पर्याय अनन्त है। समूचे लोक मे दो द्रव्यो की प्रधानता है जीव एव अजीव। ये दोनो तत्त्व शाश्वत हैं, अविनश्वर है। साथ ही जीव एव अजीव इन दोनो तत्त्वों के मध्य पूर्वापर सम्बन्ध भी स्थिर नही किया जा सकता कौन सा तत्त्व सर्वप्रथम अस्तित्व मे आया और कौन सा उसके अनन्तर अस्तित्व मे आया इस सम्बन्ध मे निश्चित रूप से कुछ भी नही कहा जा सकता। प्रमुख कारण यह है कि ये दोना ही तत्त्व अनादि हैं, शाश्वत है।

जैन दर्शन का स्पष्ट मन्तव्य है कि तत्त्व "नित्य" स्वरूप रखता है, वह अनन्त ह, अनादि है। इसी प्रकार पदार्थ का गुण या

स्वभाव भी अनादि और अनन्त है। देश-काल की बाधा इस शाश्वतता को कभी भी प्रभावित नहीं करती है। हमें कोई भी ऐसा पदार्थ दृष्टि-गोचर ही नहीं होता है जो किसी अन्य पदार्थ से निर्मित हुआ हो, अर्थात् पूर्व वस्तु का परिवर्तित रूप ही वर्तमान पदार्थ है। और यह परिवर्तन का क्रम अजस्रता के साथ आगे बढता रहा है। इसकी यात्रा वस्तुतः अनन्त होती है। किन्तु वस्तु तत्त्व कभी भी विनष्ट नहीं हो सकता। कभी-कभी हमें उसके विनष्ट हो जाने का भ्रम अवश्य होता है किन्तु वस्तु की पर्याय ही परिवर्तित होती है। काष्ठ के जलने पर वह विनष्ट हो गया है, यह बात नही है, काप्ठ भस्म में परिवर्तित हो गया। विना किसी पदार्थ के आधार के कोई सर्वथा नवीन वस्तु अस्तित्व में नही आ सकती, और न कोई वस्तु विनष्ट होती है। बर्फ बनता है तो जल उसके मूल मे अवश्य होता है। बर्फ कोई नयी वस्तु के रूप मे उत्पन्न नही हुआ है। इसी प्रकार बर्फ के पिघलने से वह विनष्ट नही हो गया है, वह केवल जल के रूप में परिवर्तित हो गया है। इसी प्रकार जीव और अजीव के विराट्-उपक्रम को संसार चक्र का संचालन कहा गया है। यह संचालन स्वचालित है। उस का कोई संचालक नही है। इसी प्रकार ये वस्तुएँ किसी के माध्यम से निर्मित भी नहीं है। ये अक्षय हैं, अज है, अमर है, अजर हैं।

इसी सन्दर्भ में यह विचारणीय प्रश्न है कि जीव और अजीव पदार्थ नव-नवीन रूप में कैसे आ जाते हैं ? परिवर्तन की प्रक्रिया क्या है ? इस सम्बन्ध मे एक वैज्ञानिक सत्य यह है कि जीव समरूपी जीव का प्रजनन करता है। मनुष्य से ही मनुष्य समुत्पन्न होता है। पशु-पक्षियों में भी यह जीवन-चक्र देखा जाता है। इसी प्रकार आम की गुठली में आम्रवृक्ष और फलों की उत्पत्ति होती है। यह सत्य चिरकालिक है। यही सदा से रहा है और सदा के लिये रहेगा भी।

यह परिवर्तन भूत मे भी होता रहा है, वर्तमान मे हो रहा है और भविष्य मे भी होता रहेगा। परिवर्तन के विभिन्न चक्र चलते ही आ रहे है। पक्षी से अण्डा और अण्डे से पक्षी की समुत्पत्ति का अजस्र चक्र चलता आ रहा है और चलता रहेगा। इस चक्र का क्या तो आदि और क्या अन्त हो सकता है। यदि इन्ही परिवतन-चक्रो का समुच्चय यह समूचा ससार है तो फिर लोक के अनादि और अनन्त होने मे भी सदेह नही होना चाहिये। जो अनादि है, उसका कर्ता कल्पित करना तक सगत नही है। यही तो जैन दृष्टि द्वारा सुस्पष्ट होता है। परमात्मा इस जगत् का सचालन नही करता है। जगत् तो स्वचालित परिवर्तनो के आधार पर स्वय ही सचालित होता रहा है। यह एक ध्रुव सत्य है कि पदाथ के वास्तविक गुण और उसके स्वभाव पर ही समग्र लोक का समूचा स्वरूप आधारित है। और जैसे पदार्थ अनश्वर है, वैसे ही उसके गुण एव स्वभाव भी नित्य स्वरूप रखते हैं। अग्नि का स्वभाव "उष्णता" है, यह सदा उसके साथ बना ही रहता है। इस स्थायित्व के कारण ही जगत् सुनिश्चित अवस्था से चलता जा रहा है। अग्नि का ससपर्श दाहक होता है। यह सावदेशिक एव सावकालिक तथ्य होकर सुदृढ नियम हो गया है। यदि अग्नि का स्पश भूल से हो जाये, बालक के द्वारा अबोधता से हो जाय, जान-बूझकर किया जाय, प्रत्येक अवस्था मे उसका फल एक ही होगा—जलाना। अबोध बालक पर दया कर अग्नि उसको नही जलाती हो या भूल मे उसको क्षमा कर दती हो—ऐसा कभी भी सभव नहीं हो सकता। वस्तु का जो स्वभाव है वह बडी ही अचलता के साथ तथावत् बना रहता है। यही प्रमुख कारण है कि समग्र-लोक विविध-परिवतनो और विभिन्न त्रिया प्रतिक्रियाओ के माध्यम से चलता जा रहा है। और स्वय ही चल रहा है। तथ्य यह है कि जैन दर्शन मे लोक की सर्वोपरि महत्ता स्वयसिद्ध ही है। अन्तत लोक का स्वरूप क्या है? इस चिन्तनीय प्रश्न पर प्रचुर रूप से मनोमथन जैन

दार्शनिकों द्वारा हुआ है और उससे निःसृत नवनीत ने एक अतीव सुग्राह्य लोक व्यवस्था को प्रतिपादित कर दिया। जैन दर्शन के अध्येताओं के लिये यह लोक-व्यवस्था का मौलिक और वैज्ञानिक दृष्टिकोण नितान्त अपेक्षणीय है। यही लोक-व्यवस्था जैन दर्शन की अत्युच्च अटारी की सुदृढ़ आधारशिला है।

यह समूचा लोक षट् द्रव्यों की समन्विति है। द्रव्य समग्र लोक-व्यवस्था का मूलभूत आधार है। सत् द्रव्य का अनिवार्य लक्षण है। सत् अविनश्वर होता है। उसका किसी भी क्षण विनाश नही हो सकता। इसी प्रकार असत् की समुत्पत्ति भी नही होती। सर्वथा रूप से काल्पनिक वस्तु-असत् को जैन दर्शन के अन्तर्गत कभी भी तत्त्व रूप में स्वीकार नही किया गया। जो तत्त्व है, वह सुनिश्चित रूप से सत् भी है। समय परिवर्तनशील अवश्य है। जो परिस्थितियाँ भूतकाल में विद्यमान है वे भविष्य काल में परिवर्तित हो जायेंगी। और तदनुसार जीवन और जगत् के अनेक पक्ष रूपान्तरित होते रहे है और वे होते रहेगे। किन्तु सत् अपने मौलिक स्वरूप को यथावत् बनाये रखते है। देश–काल परिस्थिति के परिवर्तन से वे अप्रभावित रहते है। सत् तो स्वयंसिद्ध होते हैं। उत्पन्न होने वाले, विनष्ट होने वाले और ध्रुव रहने वाले को "सत्" कहा गया है। अतः यह स्पष्ट है कि सत् अनादि है, अनन्त है। सत् का न तो क्षय होता है और न इसकी नवोत्पत्ति होती है। भूत वर्तमान और भविष्य मे भी वह सदैव यथावत् बना रहता है।

जैन दर्शन का गहराई से अध्ययन करने पर स्पष्टतः ज्ञात होता है कि तत्त्व के उपर्युक्त स्वरूप के अतिरिक्त उसका एक अन्य स्वरूप भी आध्यात्मिक क्षेत्र में व्यवहृत हुआ है। जागतिक जीव

राग-द्वेष, मोह-लोभ कर्म बन्ध के कारण कलुषित है, परिदूषित है और अपने ज्योतिमय स्वरूप को विस्मृत किये हुए है। वह पर स्वरूप अर्थात् पुद्गलो से सम्बन्ध जोडता है। पर-भाव को स्व-भाव की ओर सम्मुख करने के लिये यह आवश्यक है कि जीव और पुद्गल अर्थात् चेतना एव अचेतन के भेद-विज्ञान को स्पष्ट किया जाय। उसके लिये यह प्रतिबोध आवश्यक है।

आत्मा अन्य है, और पुद्गल अन्य है। क्योकि ये दोना द्रव्य सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र अस्तित्व वाले हैं। यही वास्तव मे तत्त्व सग्रह है। आत्मा और पुद्गल इन दोनो का वैभिन्य एव पार्थक्य प्रतिपादित करने वाला भेद-ज्ञान आवश्यक ही नहीं, अपितु अनिवार्य है। जीव और पुद्गल इन दोनो का सयोग तथा वियोग की समग्र-परिस्थितियो का गम्भीर ज्ञान भी आवश्यक है और सयोग एव वियोग के हेतुओ की समझ भी अतीव आवश्यक है। इस प्रकार आत्मा की विशुद्ध एव अशुद्ध स्थितियो, उन स्थितियो के प्रमुख कारणो, बन्धनो से विमुक्त होने के सम्बन्ध मे जो कुछ भी कहा जाता है अथवा हेतु बनते है उन्हे तत्त्व कहते हैं।

जैन दर्शन मे तत्त्व कितने है ? इस चिन्तनीय प्रश्न का महत्त्व विवेचनात्मक दृष्टिकोण से ही है। स्पष्टता एव सुविधा के लिये पृथक्-पृथक् आधार के अनुसार तत्त्वों की सख्या भी अलग-अलग पायी जाती है। किन्तु इस कारण तत्त्व के मौलिक-स्वरूप मे कोई अन्तर नही आ जाता। एक शैली के वर्गीकरण करने पर तत्त्वों को जिस प्रकार परि-गणित किया गया है। अन्य शैली मे उस मे से कुछ तत्त्वो को किन्ही अन्य तत्त्वो के साथ समाहित या सयुक्त मान लेने के कारण सख्या घट गई है। अतएव पूर्व शैली मे सयुक्त माने गये तत्त्वा को अन्य शैली मे अलग मान लिये जाने पर सख्या मे अभिवृद्धि हो गई है। समग्र रूप से तत्त्व स्वरूप तो समस्त शैलियो मे एक जैसा ही है।

जैन आध्यात्मिक दृष्टिकोण से जीव को प्रथम और प्रमुख तत्त्व स्वीकारा गया है और उसके दो स्वरूप माने गये है कर्म सहित अर्थात् संसारी जीव और कर्म रहित अर्थात् सिद्ध-जीव । इस प्रकार आत्मा के दो भेद हुये संसारी और मुक्त । आत्म तत्त्व के अतिरिक्त अवशेष सभी पदार्थ "अजीव" है । मूलतः तत्त्व दो है—जीव और अजीव या चेतन और जड़ । इसी वर्गीकरण को अन्य रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है—अन्तस्तत्त्व अर्थात् आत्मा और बहिस्तत्त्व अर्थात् जड़ । यह वर्गीकरण वास्तव में गूढ़ और सूत्रात्मक है । अतएव सामान्य जनों की दृष्टि से अति दुरुह है । इसकी जटिलता को सरल करने और इसे विश्लेपणात्मक विस्तार देने का कार्य अवशेष शैलियाँ द्वारा सम्पन्न हुआ है ।

प्रथम शैली मे तत्त्व के दो मुख्य भेद प्रतिपादित है—जीव और अजीव ।

द्वितीय शैली के अनुसार तत्त्व के सात-भेद हैं । वे इस प्रकार हैं—जीव, अजीव, आश्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ।

इसी प्रकार एक और तीसरी शैली के अनुसार तत्त्व की संख्या नौ हो गई है । जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आश्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ।

प्रथम शैली में जीव और अजीव ये दोनों मुख्यतम तत्त्व हैं । इन्हीं दो में शेष सात तत्त्व समाहित हैं । क्योंकि सातों ही तत्त्व उपर्युक्त दो मूल तत्त्वों की पर्याय है । उपर्युक्त द्वितीय शैली में, जिस सात तत्त्वों की गणना हुई है । तथा तृतीय शैली में नौ तत्त्व गिनाये गये हैं । किञ्चित् मात्र सा ही अन्तर है । पुण्य और पाप को दो पृथक् तत्त्व स्वीकार करने के कारण तत्त्वों की संख्या नौ हो गई ।

और इन दोनो तत्वो को आश्रव तत्व के अन्तर्गत समाहित कर लिया गया। द्वितीय शैली मे तत्वो की सख्या सात रह गई। सामान्यत जैन दर्शन मे नव तत्वो का उल्लेख प्राप्त होता है।

आध्यात्मिक दृष्टि से तत्वो का वर्गीकरण हुआ है। इस वर्गीकृत रूप को तीन श्रेणियो मे कोटिबद्ध किया जा सकता है।

(१) ज्ञेय—जो ज्ञात करने के योग्य है।
(२) हेय—आचरण की दृष्टि से जो त्याज्य है।
(३) उपादेय—जो ग्रहण करने योग्य है।

इस वर्गीकरण के अनुसार जीव, अजीव और पुण्य ये तीनो तत्त्व ज्ञेय हैं। अजीव एव जीव तत्त्व का परिज्ञान साधको के लिये अनिवार्य है। यही ज्ञान उनके सयम-पालन का प्रधान आधार बनता है। इस ज्ञान के अभाव मे सयम का सुस्पष्ट चित्र उभर नही पाता है। सासारिक बन्ध हेय होते हैं और मोक्ष उपादेय होता है। जब कर्म-बन्ध रूप ससार हेय है, तो स्वत ही स्पष्ट है कि ससार की वृद्धि के कारण आश्रव, पाप और बन्ध भी हेय हैं। यहाँ पर पुण्य के विषय मे यह उल्लेख अनिवार्य है कि यह पुण्य तत्त्व सर्वथा एव मात्र ज्ञेय की कोटि मे नही आ सकता। पुण्य तत्त्व का जो उपादेय और हेय रूप है, उसको नौका के उदाहरण से समझा जा सकता है। जैसे अभीष्ट स्थान पर पहुँचने तक नौका की उपादेयता है। अभीष्ट स्थान पर पहुँचने पर नौका छोड दी जाती है। वैसे ही साधक अवस्था मे पुण्य तत्त्व उपादेय है और वीतराग गुणस्थानो मे स्वत छूटता जाता है। पृथक्-पृथक् अवस्थाओ मे पुण्य की परिगणना हेय तथा उपादेय की श्रेणियो मे भी की जाती है। इसी प्रकार मोक्ष तत्त्व भी उपादेय की कोटि मे आता है। अत सवर एव निर्जरा ये दोनो तत्त्व भी इसी उपादेय श्रेणी मे आते है।

रूपी और अरूपी के आधार पर भी तत्त्वों का वर्गीकरण हुआ है। रूपी तत्त्व वे कहलाते हैं, जिनमें वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श ये चारों गुण पाये जाते हों, तथा जो सड़न-गलन, विध्वंसन-स्वभाव से समन्वित हों। इसके विपरीत इन लक्षणों से रहित तत्त्व अरूपी है। जीव तत्त्व अरूपी है और अजीव तत्त्व के पाँच भेद हैं—धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय और काल। इनमें से पुद्गल रूपी है और शेप चार अरूपी हैं। पुद्गल की पर्याय-विशेष द्रव्य कर्म रूप, आश्रव, पुण्य, पाप और वन्ध भी रूपी है।

इसी सन्दर्भ में एक और चिन्तनीय प्रश्न उपस्थित होता है कि नव तत्त्वों में से कितने और कौन-कौन से तत्त्व जीव है और कौन-कौन से अजीव हैं? यह निर्णय इस वर्गीकरण का प्रमुख विषय है—जीव तत्त्व की कोटि के अन्तर्गत सहज रूप में ही जीव तत्त्व तो आता ही है। साथ ही जीव की अवस्थाएँ विशेष—संवर, निर्जरा एवं मोक्ष तत्त्व भी जीव श्रेणी के अन्तर्गत आते है।

इसी प्रकार अजीव तत्त्व सहजतः अजीव-कोटि में मान्य होता ही है। साथ ही अजीव तत्त्व की अवस्था विशेप पुण्य, पाप, आश्रव और बन्ध अजीव तत्त्व के अन्तर्गत आ जाते हैं, जो पुद्गल-स्वरूप है। इनके अतिरिक्त धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय और काल इन चार द्रव्यों की परिगणना भी अजीव की श्रेणी में की जाती है जो अमूर्त्त अर्थात् अरूपी है।

उपर्युक्त-विवेचना का तात्पर्य इतना ही है कि तत्त्वों की संख्या सूत्रात्मक रूप से जिस शैली के अन्तर्गत मानी गई है जीव और अजीव उसमें कोई अनौचित्य जैसा तथ्य नही है।

जैन दर्शन में तत्त्वों का वर्गीकरण दो दृष्टियों से किया जाता

है—तत्त्व दृष्टि और द्रव्य दृष्टि। उपर्युक्त वर्गीकरण आध्यात्मिक दृष्टि, रूपी-अरूपी और जीव-अजीव की अपेक्षा किया गया है।

द्रव्य दृष्टि से तत्त्वों का वर्गीकरण तनिक भिन्न पद्धति से किया गया है। इसके अन्तर्गत द्रव्य को प्रधानत्व प्राप्त होता है और तदनुसार द्रव्य के छ प्रकार निरूपित हु। धर्म, अधम, आकाश, जीव, पुद्गल और काल। काल द्रव्य के अतिरिक्त पांच द्रव्यो के साथ जव अस्तिकाय शब्द का प्रयोग करते हैं तब जीवास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय कहते है। अस्तिकाय का अर्थ है—प्रदेशो का समूह। छह द्रव्यो मे काल प्रदेश समूह रूप नही है। अतएव काल द्रव्य के साथ अस्तिकाय शब्द प्रयुक्त नहीं हुआ है।

किसी भी पदार्थ के स्वरूप को समझने की दृष्टि मे उसको द्रव्य और भाव रूप दो विभागो मे विभाजित किया जाता है। द्रव्य का अर्थ है—वस्तु का मूलभूत स्वरूप और भाव का अर्थ है—उसकी पर्याय विशेष। द्रव्य और भाव का एक अन्य दृष्टिकोण मे भी अथ करते हैं। वह इस प्रकार है—द्रव्य का अथ—पौद्गलिक वस्तु और भाव का अर्थ ह—आत्मिक-परिणाम। द्रव्य और भाव की दृष्टि से नव तत्त्वों को इस प्रकार घटाया जाता है।

अनादिकालीन जीव रूप अखण्ड तत्त्व द्रव्य जीव है। जीव के प्रतिपल-प्रतिक्षण होने वाले विविध-परिणमन अर्थात् पर्याय को भाव जीव कहा जाता है तथा ज्ञान, दर्शन, आनन्द आदि आत्मा के निज गुण भी भाव-जीव की कोटि मे आते हैं। इसी तरह अनादि कालीन धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय और काल द्रव्य अजीव हैं और उसकी पर्याय भाव अजीव है। द्रव्य पुण्य क्या है? शुभ कर्म के पुद्गल। भाव पुण्य है—पुण्य बंध के कारण

भूत आत्मा के दानादिरूप शुभ-परिणाम। द्रव्य पाप है—अशुभ कर्म के पुद्गल। भाव पाप क्या है? पाप बन्ध के कारणभूत आत्मा के परपीड़न रूप अशुभ परिणाम। द्रव्य आश्रव क्या है? मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद, कषाय और योग के निमित्त से कर्म-पुद्गलों का आस्रवण। भाव आश्रव क्या है? मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद, कषाय और योग रूप आत्मा का परिणाम। द्रव्य संवर क्या है? आश्रव का निरोध करने के लिये किये जाने वाले व्रत, समिति, गुप्ति के आचरण से पुद्गल रूप द्रव्य कर्मों का निरोध। भाव संवर क्या है? आश्रव का निरोध करने वाले आत्मा के शुद्ध परिणाम। द्रव्य निर्जरा क्या है? विपाक, अनशन, उनोदरी आदि तप के द्वारा आबद्ध कर्मों का आंशिक क्षय होना। भाव निर्जरा क्या है? निर्जरा करने वाले आत्मा के विशुद्ध परिणाम। आत्म प्रदेशों के साथ कर्म पुद्गल का सम्बन्ध होना द्रव्य बन्ध है। भाव बन्ध क्या है? आत्मा के राग-द्वेष रूप परिणाम। द्रव्य मोक्ष क्या है—आबद्ध कर्म का आत्यन्तिक क्षय होना। भाव-मोक्ष क्या है? आत्मा का अपने शुद्ध, बुद्ध, ज्योतिर्मय स्वरूप में रमण करना।

इसी सन्दर्भ में एक प्रश्न और उद्भूत होता है कि नव तत्त्वों में जीव को सर्वप्रथम स्थान क्यों दिया गया है? उत्तर है कि उक्त तत्त्वों में ज्ञाता-द्रष्टा, पुद्गल का उपभोक्ता, शुभ एवं अशुभ कर्म का कर्ता, संसार और मोक्ष प्राप्ति के लिये योग्य प्रवृत्ति का विधाता जीव ही है। यदि जीव न हो तो पुद्गल का क्या उपयोग रहेगा? इसीलिये नव तत्त्वों में जीव तत्त्व की प्रधानता होने से उसे सर्वप्रथम स्थान दिया गया है। जीव की गति में, अवस्थिति में, अवगाहना में, उपभोग आदि में उपकारक अजीव तत्त्व है। अतएव जीव के पश्चात् अजीव का समुल्लेख हुआ है। जीव और पुद्गल इन दोनों का संयोग ही संसार है। उस संसार के आश्रव और बन्ध ये दो कारण हैं। अतः

अजीव के बाद आश्रव और बन्ध को स्थान दिया गया है। ससारी आत्मा को पुण्य से सुख का वेदन और पाप से दुःख का वेदन होता है। इस अपेक्षा-आधार से पुण्य और पाप का क्रम आश्रव और ब घ के पूर्व रखा गया है। जीव और पुद्गल इन दोनो का वियोग "मोक्ष" है। सवर और निजरा ये दोनो मोक्ष-प्राप्ति के मुख्य कारण हैं। कम की सम्पूर्ण रूप से निजरा होने पर मोक्ष होता है। अतएव सवर, निजरा और मोक्ष यह क्रम रखा गया है। इसी सन्दर्भ मे यह तथ्य भी नितान्त ज्ञातव्य है कि अधिकारी की योग्यता को सलक्ष्य मे रखकर तत्त्वो का सक्षेप और विस्तार से विचार किया गया है। यदि जिज्ञासु प्रतिभा सम्पन्न है, तो तत्त्व का प्रतिपादन सक्षेप-शैली से किया जाता है। और यदि जिज्ञासु की बुद्धि मन्द है तो तत्त्व का निरूपण विस्तार से किया जाता है जिससे वह स्पष्टता और सुगमता से समझ सके। सात तत्त्वो का भी सक्षिप्त निरूपण करना चाहे तो जीव और अजीव इन दो तत्त्वो मे किया जा सकता है क्योकि सात तत्त्व इन्ही के सयोग और वियोग से बने है। आश्रव, बन्ध, पुण्य और पाप ये चारो तत्त्व-सयोगी हैं। सवर, निर्जरा और मोक्ष ये तीनो तत्त्व-वियोगी है। आत्मा के ज्योतिर्मय-स्वरूप को आच्छादित करने वाले कर्म जिस क्रिया विशेष से आते है वह आश्रव तत्त्व कहलाता है। जहा आश्रव है, वहाँ बन्ध भी है। कामण-वगणा के पुद्गलो का कषाय से आत्म प्रदेशो से बन्ध होता है। शुभ बन्ध को पुण्य और अशुभ बन्ध को पाप कहा है। इस प्रकार ये चारो तत्त्व जीव और अजीव इन दोनो के सयोग से बनते है। एतदर्थ ये सयोगी तत्त्व है। सवर का अर्थ है—आश्रव के द्वारा जो कर्म-पुद्गल का प्रवाह आ रहा है उसका निरोध करना। आत्मा का कर्मों के साथ सम्बन्ध न होने देना। कार्मण-वर्गणा के पुद्गलो का आशिक रूप से विलग हो जाना "निर्जरा" है। और सम्पूर्ण रूप से अलग हो जाना "मोक्ष" है। इन तीनो का कार्य विजातीय तत्त्व को हटाना है। इसीलिये ये वियोगी

तत्त्व है । जैन दर्शन में जो तत्त्व है, वह सत् है । और जो सत् है, वह द्रव्य है । केवल शब्दों में अन्तर है । भावों मे किञ्चित् मात्र भी अन्तर नहीं है । प्रत्येक वस्तु द्रव्य की अपेक्षा से नित्य है और पर्याय की दृष्टि से अनित्य है । अतः तत्त्व रूप से परिणामी नित्य है । किन्तु वह एकान्तिक रूप से नित्य नही है, अनित्य नहीं है । यहाँ यह भी स्मरण रखना चाहिये कि द्रव्य और पर्याय पृथक्-पृथक् दो पदार्थ नही हैं । उनमें पदार्थगत कोई भेद नही है, केवल विवक्षा भेद है । अनेकान्त दर्शन के अनुसार प्रत्येक सत् पदार्थ उत्पाद, व्यय-ध्रौव्यात्मक है । तथ्य यह है कि पर्याय से उत्पन्न और विनष्ट होता हुआ भी द्रव्य से ध्रुव है । कोई भी पदार्थ इसका अपवाद नही है । सभी द्रव्य उभय स्वभावी है । उनके स्वभाव की यथार्थ — विवेचना एक ही प्रकार की नहीं हो सकती । असत् का उत्पाद नही होता और सत् का विनाश नही हो सकता । इस द्रव्य नयात्मक सिद्धान्त से द्रव्यों की विवेचना हो सकती है पर्यायों की विचारणा नही की जा सकती । उनकी विवेचना का निष्कर्ष यह होगा कि असत् की उत्पत्ति और सत् का विनाश होता है । इस पर्यायनयात्मक सिद्धान्त के द्वारा ही विवेचन हो सकता है । इन दोनों को एक शब्द मे यो भी कहा जा सकता है कि— परिणामि नित्यवाद अथवा नित्यानित्यवाद । इसमे स्थायित्व और परिवर्तन का सापेक्ष रूप से विश्लेपण है । उक्त विवेचन का तात्पर्य यह है कि प्रत्येक पदार्थ के दो प्रमुख अश है—द्रव्य और पर्याय । अतः द्रव्य को मुख्य रूप से ग्रहण करने वाला दृष्टिकोण द्रव्यार्थिक नय है और पर्याय को ग्रहण करने वाला दृष्टिकोण नय । यद्यपि पदार्थगत अनन्त धर्मो को ग्रहण करने वाले अभिप्राय अनन्त-अनन्त होते है तथापि उनका अन्तर्भाव द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक इन दो नयों मे हो जाता हे । जैन दर्शन का स्पप्ट उद्घोप हे कि प्रत्येक तत्त्व अपने स्वरूप मे निप्ठ होता है । एक तत्त्व का अन्य तत्त्व में संक्रमण नही हो सकता । स्थूल या बाह्य दृप्टिकोण से हम अनेक पदार्थो के संक्रमण या सहस्थिति को

एक ही पदार्थ मान लेते है। परन्तु ऐसी स्थिति म प्रत्येक तत्त्व अपने-अपने मौलिक-स्वरूप मे होता है। जहाँ पर तत्त्व के अस्तित्व की अपेक्षा है। वहाँ पर विश्व एक है और चैतन्य और अचैतन्य की अपक्षा विश्व एक नही है। चेतन विश्व और अचेतन विश्व, ये दो रूप हैं। चैतन्य की अपक्षा चेतन जगत् एक है किन्तु चैतन्य के भी अनन्त प्रकार हैं। चैतन्य और अचैतन्य की दृष्टि से उसमे विभेद ह। किन्तु द्रव्यत्व, वस्तुत्व, अस्तित्व आदि अनेक अपेक्षाओ से उनमे अभेद हैं। अन्य दृष्टि से सर्वथा अभेद ही नही भेद भी है। उनमे स्वरूप भेद है। एतदर्थ उनमे अर्थ क्रिया भिन्न-भिन्न होती हैं। उनमे अभेद भी है। अत दानो मे ज्ञेय-ज्ञायक, ग्राह्य-ग्राहक प्रभृति सम्बन्ध है। एक पदार्थ अनेक गुण-धर्मों का वहन कर सकता है। इनमे से एक या कुछ को स्वीकार करने एव अवशेष का निषेध करने की प्रवृत्ति एकान्तात्मक होती है। जब पदार्थ स्वय अनन्तधर्मात्मक होने के कारण अनेकान्तात्मक है। उसका प्रस्तुतीकरण एकान्तात्मक रूप मे करना न केवल अनुपयुक्त, अपितु अपूर्ण और आशिक भी है। हाँ, यह अवश्य है कि जितने-जितने धर्मों की स्वीकृति अपेक्षित है वे सभी पदार्थ मे निवास करते हैं। व्यक्ति अपनी अभिरुचि के अनुसार उनकी कल्पना या उनका आरोप नही कर सकता। जो गुण नही है, उसे उस पदार्थ के साथ जोडना उपयुक्त नही है। उसी प्रकार जो गुण धर्म हैं, उसको छोडना भी उतना ही अनुपयुक्त है। यह पदार्थ ऐसा है और कथचित् ऐसा भी है। इस शैली के प्रयोग द्वारा पदार्थ के प्रासगिक गुण के साथ-साथ उसके अप्रासगिक गुण धर्मो की उपस्थिति को स्वीकार करना अनेकान्तता की अभिव्यक्ति के लिये आवश्यक होता है। यह अभिव्यक्ति शैली स्याद्वाद है। जैन धर्म अनेकान्त के वैशिष्ट्य से विभूषित है। जैन दृष्टि पदार्थ की अनेकविध धार्मिकता को पूर्ण रूप से स्वीकार करती है और प्रत्येक धर्म को समझने-परखने की चेष्टा करती है। जैन दृष्टि की यह महत्ता है कि उसने

एक ही पदार्थ मे नित्यता-ग्रनित्यता, सदृशता-ग्रसदृशता, वाच्यता-ग्रवाच्यता, सत्ता-ग्रसत्ता ग्रादि परस्पर विरुद्ध से प्रतीत होने वाले धर्मो का ग्रविरोध प्रतिपादन करके उनका तर्क संगत समन्वय प्रस्तुत करती है जिससे पदार्थ में प्रत्येक धर्म की संगति निर्विवाद रूप से हो जाती है। ग्रौर तत्त्व का यथार्थ स्वरूप समग्रता से उद्भासित हो जाता है। ग्रतः यह ध्रुव सत्य है कि ग्रनेकान्त दृष्टि एक विलक्षण ग्रौर वैज्ञानिक दृष्टि है । इसी दिव्य दृष्टि से प्रत्येक तत्त्व ग्रनेकान्त स्वरूप है, यह स्पष्ट हो जाता है ग्रौर एक ही वस्तु में वस्तुत्व की निष्पादक विरुद्ध धर्मों के प्रतिपादन का नाम "स्याद्वाद" है। जिस समय एक तत्त्व ग्रखण्ड रूप से विवक्षित होता है, उस समय वह ग्रस्तित्व, नास्तित्व धर्मो की ग्रभेद वृत्ति करके एक वचन द्वारा कहा जाता है। तथ्य यह है कि वस्तु तत्त्व एकान्तात्मक नही है उसका स्वरूप ग्रनेकान्तात्मक है । ग्रतः ग्रनेकान्त ग्रनेक सापेक्ष दृष्टियों का समुच्चय है। उसका समन्वित रूप ही जैन दर्शन का हार्द है । जैन दर्शन की महत्ता इसीलिये है कि उसका तात्त्विक मनन एवं तात्त्विक मीमांसा मौलिकता ग्रौर यथार्थता को लिये हुए है ।

—रमेश मुनि शास्त्री



अनुक्रमणिका

जैन तत्त्व-(परिचय) प्रश्नोत्तरी

शिष्य—जिज्ञासु शिष्य ने श्रद्धा के साथ गुरुदेव से पूछा कि भगवन् ! यह लोक क्या है ?

उत्तर में गुरुदेव ने कहा—जहाँ जीवादि छह द्रव्य देखे जाते हो उसे लोक कहते है, जैसा कि शब्दानुशासन में कहा है—"लोक्यंते जीवादि द्रव्याणि यत्र असौ लोकः", अर्थात् जहाँ पर जीव, अजीव आदि द्रव्य और उनकी विविध अवस्थाएँ देखी जाती हों, उसे लोक कहते है। जैसा कि आगमवाणी मे कहा है—"धम्मो अहम्मो आगासं, कालो पुग्गल जन्तवो। एस लोगोत्ति पन्नत्तो, जिणेहिं वरदंसिहिं ॥ (उत्तराध्ययन अ. २८, गाथा ७) अर्थात् धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, काल, पुद्‌गलास्तिकाय और जीवास्तिकाय, इस षट् द्रव्यात्मक क्षेत्र को ही लोक कहते हैं। जहाँ धर्मास्तिकाय आदि द्रव्य नही है, और केवल आकाश हे वह शून्य प्रदेश, अलोक कहलाता है। ढाई हजार वर्ष पूर्व कयंगला नगरी में भगवान महावीर के समक्ष स्कन्दक परिव्राजक ने लोक के सम्बन्ध में अपना समाधान प्राप्त करना चाहा। प्रभु ने स्कन्दक के मनोगत भावो को जानकर कहा कि हे स्कन्दक ! लोक के विषय में तुम्हरी जो शंका थी कि लोक सान्त है या अनन्त है, इस सम्बन्ध मे यह जानना चाहिये कि लोक चार प्रकार के हैं :—(१) द्रव्य लोक (२) क्षेत्र लोक (३) काल लोक और (४) भाव लोक। (१) द्रव्य से लोक एक और अन्त सहित है। (२) क्षेत्र से

लोक असख्यात कोडा-कोडी याजन का लम्बा-चौडा और परिधि वाला कहा गया है, अत वह सान्त है। (३) काल से लोक कभी नही था, नहीं है या नही होगा, ऐसी बात नही, वह पहले था, आज है और भविष्य मे रहगा। अत वह अनन्त है। पर्याय दृष्टि से उत्पत्ति और व्यय का क्रम चलते रहने पर भी मूल द्रव्यो की ध्रुवता की अपेक्षा वह शाश्वत है, उसका कभी अन्त नही होता। (४) भाव से लोक अनन्त वर्ण-पर्याय, अनन्त गन्ध-पर्याय, अनन्त रस-पर्याय, अनन्त स्पर्श-पर्याय तथा अनन्त गुरु-लघु, अनन्त अगुरु-लघु पर्याय वाला एव गुण से अन्त रहित है। चार प्रकार के लोक मे द्रव्य और क्षेत्र से लोक अन्त सहित है, तथा काल और भाव से अन्त रहित कहा गया है। इसलिय एकान्त रूप से लोक सान्त या अनन्त नही कहा जा सकता। वह द्रव्य क्षेत्र की अपेक्षा सान्त और काल तथा भाव की अपेक्षा अनन्त कहा गया है। यह कथन स्याद्वाद प्रधान ह।

शिष्य—भगवन्! लोक एक ही है या उसके भाग भी होते हैं?

गुरुदेव ने उत्तर देते हुए फरमाया कि—लोक तीन प्रकार का है—(१) ऊर्ध्व लोक (२) अधो लोक और (३) तियक् लाक। सम्पूर्ण लोक १४ रज्जु प्रमाण आकाश मे अवस्थित हैं।

शिष्य—गुरुदेव! ऊर्ध्व लोक, अधो लोक और तिर्यक् लोक ये कितने-कितने वडे हैं?

गुरुदेव—तीनो लोक मे ऊर्ध्व लोक कुछ कम ७ रज्जु, तियक् लोक अर्थात् मध्य लोक १८०० योजन और अधो लोक ७ रज्जु जाजेरी कहा है, इस प्रकार कुल मिलाकर १४ रज्जु प्रमाण क्षेत्र मे सम्पूर्ण लोक क्षेत्र माना गया है।

शिष्य—भगवन् ! सम्पूर्ण लोक १४ रज्जु प्रमाण फरमाया, तो वह रज्जु क्या और कितना बड़ा कहा गया है ? कृपया समझावें।

गुरुदेव ने उत्तर में कहा—शिष्य रज्जु का प्रमाण उपमा से इस पर समझना चाहिये—एक हजार भार का गोला ऊर्ध्व लोक से इन्द्र या कोई देव अति शीघ्रता से नीचे फैके और वह छह महीने, छह दिन, छह प्रहर, छह घड़ी और छह पल में जितनी दूर जावे उतने क्षेत्र को एक रज्जु कहा जाता है। पूर्वाचार्यो ने एक भार तीन करोड़ इक्यासी लाख बारह हजार नौ सौ सत्तर (३,८१,१२,९७०) मन का बताया है। उपरोक्त प्रमाण के १४ रज्जु का सम्पूर्ण लोक बताया गया है। योजन की अपेक्षा सम्पूर्ण लोक असंख्यात योजन का होता है। इसी में धर्मास्तिकाय आदि पाँच अस्तिकाय द्रव्य और काल अवस्थित है। इसके बाहर अलोक मे शून्य आकाश मात्र है। वहाँ कोई अन्य द्रव्य नहीं है।

शिष्य—भगवन् ! लोक के अनन्त-अनन्त पदार्थों में मूल तत्त्व कितने हैं ?

गुरुदेव ने कहा—संसार में मूल तत्त्व दो है। जीव और अजीव। जैसा कि कहा है—"जीवा चेव अजीवा य, एस लोए वियाहिए। अजीव देसमागासे, अलोगे से वियाहिए" (उ० अ० ३६ गा० २) अर्थात् जीवों और अजीवों के समूह एवं इनके संयोग को लोक कहा गया हैं, अजीव का एक देश आकाश-अलोक कहा जाता है। सांख्य दर्शन की भाषा में इसी को प्रकृति और पुरुष के नाम से कहा जाता है। आज का विज्ञान सौ से भी अधिक तत्त्व बतला रहा है, पर वे सब जीव-अजीव के अंतर्गत समाविष्ट हो जाते हैं। विज्ञान अभी जड़-दृश्य तत्वों को ही पकड़ पाया है, चेतन तत्त्व की खोज करते हुए भी वह अभी उसे उपलब्ध नही कर सका है।

शिष्य—भगवन् ! लोक मे जीव और अजीव दो ही मूल तत्त्व हैं। तब नवतत्त्व का उल्लेख कैसे है ?

गुरुदेव ने समाधान की भाषा में कहा—हे अन्तेवासी ! मूल तत्त्व जो दो कहे गये हैं, वे संग्रह नय की अपेक्षा से समुचित है। अनन्त पुद्गल-स्कन्ध और विभिन्न योनियों के जीव, जीव और अजीव इन दो तत्त्वों मे सगृहीत हो जाते हैं किन्तु जीव और अजीव के संयोग एवं वियोग रूप से अन्य तत्त्वों का भी कथन किया जाता है। जीव-अजीव के ही संयोग एवं वियोग रूप पर्याय से ९ तत्त्व कहे जाते है।

शिष्य—भगवन् ! मूल दो तत्त्वों मे जीव का स्वरूप क्या है ? उसको किन लक्षणों से पहचानना चाहिये ?

गुरुदेव ने कहा—जो जीव चेतनाशील और उपयोगमय हो उसे जीव समझना चाहिये। जैसा कि शास्त्र मे कहा है—

जीवो उवओग लक्खणो। गुण धर्म से एक होकर भी गति, जाति नर-नारी आदि पर्यायों से जीव अनन्त भी कहा जाता है, जैसा कि कहा है—'अणन्ताणि य दव्वाणि कालो पुग्गलजन्तवो" (उ० अ० २८ गा० ८) अर्थात् काल, पुद्गल और जीव अनन्त अनन्त हैं।

जीव का लक्षण बतलाते हुए कहा है—

"नाणं च दंसणं चेव, चरित्तं च तवो तहा।
वीरियं उवओगो य, एयं जीवस्स लक्खणं ॥
(उ० अ० २८ गा० ११)

अर्थात् ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप, वीर्य और उपयोग ये जिसमे पाये जावें उसे जीव समझना चाहिये। जीव अर्थात् आत्मा, मन और इन्द्रियों से अतीत होने से उसका इन्द्रियों से साक्षात्कार नहीं होता, वह जीव उपरोक्त लक्षणों से ही पहचाना जाता है।

शिष्य—जीव कितने प्रकार के हैं ?

गुरुदेव—उत्तराध्ययन और पन्नवणा आदि सूत्रों में जीव के २ भेद बतलाये गये है, जैसा कि कहा है, "संसारत्था य सिद्धा य, दुविहा जीवा वियाहिया । सिद्धा रणेगविहा वुत्ता तं मे कित्तयओ सुण ।। (उ० अ० ३६ गा० ४६) जिनेन्द्र देव ने कहा है कि—संसारी और सिद्ध–इस प्रकार जीव मुख्य रूप से दो प्रकार के है । उनमें से पहले सिद्ध जीवों का कथन किया जाता है । सर्वथा कर्म मुक्त आत्माओ को सिद्ध कहा गया है, वे अनेक प्रकार के होते है ।

शिष्य ने जिज्ञासा करते हुए पूछा—भगवन् ! सकल कर्मों को क्षय कर लेने के बाद जीवों की विविधता का कौनसा कारण रहता है, जिससे कि सिद्धों के अनेक प्रकार कहे गये ।

उत्तर में गुरुदेव ने कहा—वास्तव में सिद्धों में मुक्त हो जाने पर कोई भेद नही रहता, सब एक ही आत्म स्वरूप में अवस्थित होते हैं । फिर भी यहाँ जो भेद बतलाया है, वह सिद्धत्व के पूर्व अवस्था की अपेक्षा भेद किये गये है । पूर्व पर्याय की विविधता के उपलक्षण से सिद्धां के १४ प्रकार कहे गये हैं ।

"इत्थी[१] पुरीस[२] सिद्धाय, तहेव य नपुंसगा[३] ।
सलिंगे[४] अन्नलिंगे[५] य, गिहिलिंगे[६] तहेव य ।।
उक्को सोगाहणाए[७] य, जहन्न मज्झिमाइ[८] य[९] ।
उड्ढं[१०] अहे[११] य तिरियं[१२], समुद्दम्मि[१३] जलम्मि[१४] य ।।
(उ० अ० ३६ गा० ५०, ५१)

अर्थात् [१]स्त्री [२]पुरुष और [३]नपुंसक की पर्याय से सिद्ध होने वाले, [४]स्वलिंग [५]अन्यलिंग और [६]गृहलिंग अर्थात् गृहस्थी के वेश से सिद्ध होने वाले, [७]उत्कृष्ट अवगाहना [८]जघन्य अवगाहना और [९]मध्यम

अवगाहना से सिद्ध होने वाले। क्षेत्र की अपेक्षा—[10]ऊर्ध्वलोक [11]अधोलोक और १२ तियक लोक मे सिद्ध होने वाले। फिर [13]समुद्र मे और [14]जल से सिद्ध हाने वाले। इन २ को मिलाकर १४ प्रकार से सिद्ध होते हैं। इस प्रकार पूर्व पर्याय के भेद को सिद्धो के भेद मानकर १४ भेद सिद्ध कहा गया है।

प्रज्ञापन सूत्र के प्रथम पद मे सिद्ध जीवो के अनन्तर और परपर दो प्रकार करते हुए सिद्ध जीवो के १५ भेद वतलाये, जैसे—

अणतर-मिद्ध असंसार-समावण्ण जीव पण्णवणा पण्णरसविहा-पण्णता, तजहा-तित्थमिद्धा अतित्थमिद्धा, तित्थगर सिद्धा, अतित्थगर मिद्धा, सयवुद्ध सिद्धा, पत्तेयवुद्ध सिद्धा, वुद्धवोहिय सिद्धा, इत्थीलिंग सिद्धा, पुरिसलिंग सिद्धा, नपुसकलिंग सिद्धा, सलिंग सिद्धा, अण्णलिंग सिद्धा, गिहिलिंग सिद्धा, एग सिद्धा, अणेग सिद्धा ॥" प०।

अर्थात्—अनन्तर-मिद्ध असंसार समापन्न जीवो की पन्नवणा अनेक प्रकार की है, जैसे तीथ सिद्ध आदि। तीर्थ की स्थापना के पश्चात् सिद्ध होने वाले 'तीर्थ मिद्ध'[1], तीर्थ स्थापना के पूव बिना ही सिद्ध होने वाले 'अतीर्थ सिद्ध'[2], तीर्थंकर पद से सिद्ध होने वाले 'तीर्थंकर सिद्ध'[3] तीर्थंकर के अतिरिक्त सिद्ध होने वाले 'अतीर्थंकर सिद्ध'[4] गुरु आदि के उपदेश विना स्वय बोध प्राप्त कर मिद्ध होने वाले, 'स्वयबुद्ध'[5], वृषभ आदि किसी एक निमित्त से प्रतिवुद्ध होकर सिद्ध होने वाले 'प्रत्येक वुद्ध'[6], किसी ज्ञानी की प्रेरणा से प्रतिवुद्ध होकर सिद्ध होने वाले 'वुद्ध वोधित'[7], स्त्री के शरीर से सिद्ध होने वाले 'स्त्रीलिंग-सिद्ध'[8], पुरुप के शरीर से सिद्ध होने वाले 'पुरुपलिंग-सिद्ध'[9], नपुसक के शरीर से सिद्ध होने वाले 'नपुसकलिंग-सिद्ध'[10], स्वलिंग रजोहरण मुखवस्त्रिका आदि जैन लिंग से सिद्ध होने वाले 'स्वलिंग-सिद्ध'[11], परिव्राजक आदि वेष से सिद्ध होने वाले 'अन्यलिंग सिद्ध'[12],

मरुदेवी आदि की तरह गृहस्थ वेप से सिद्ध होने वाले 'गृहलिंग सिद्ध'[13], एक समय मे एक सिद्ध होने वाले 'एक सिद्ध'[14] और एक समय में अनेक एक साथ में सिद्ध होने वाले 'अनेक सिद्ध'[15] है।

इस प्रकार क्षेत्र भेद, लिंग तथा रूप भेद आदि पूर्वावस्था से सिद्धों के भी १५ भेद किये गये है। इनको औपचारिक समझना चाहिये। वास्तव मे सिद्ध एक ही प्रकार के होते है, वहाँ छोटे-वड़े या रंग रूप का कोई भेद नही रहता।

शिष्य—गुरुदेव ! उपरोक्त विवेचन से सिद्धों के प्रकार विषयक मेरा समाधान हो गया। किन्तु सिद्ध सर्वथा कर्म मुक्त होने से अशरीरी हैं, तो उन्हें कैसे समझना चाहिये। उनका स्वरूप क्या है ?

उत्तर में गुरुदेव ने कहा—सिद्धों के स्वरूप संबंधी उववाईय आदि सूत्रों मे विशद वर्णन मिलता है, जैसा कि कहा है—असरीरा जीवघणा, उवउत्ता दंसणे य णाणे य। सागारमणागारं लक्खणनेयं तु सिद्धाणं।। (उववाईय अ० गा० ११) सिद्ध अशरीरी और चैतन्य घन होते है, अपने मुख्य गुण पूर्ण ज्ञान और पूर्ण दर्शन आदि आत्म गुणों में अवस्थित होते है।

आचाराग सूत्र के पंचम अध्ययन के पष्ठ उद्देश्य में सिद्ध भगवान का स्वरूप वतलाते हुए निम्न प्रकार से कथन किया है—

"अच्चेइजाइमरणस्स, वट्टमग्गं विक्खायरए"

सिद्ध आत्मा जन्म-मरण के वृत्त मार्ग को पार कर जाते हैं, उनके स्वरूप को कथन करने के लिये कोई शब्द समर्थ नही होता, जहाँ पर तर्क और वुद्धि की पहुँच नही हो सकती, और वुद्धि से भी जहाँ अवगहन नहीं होता। यथाचोक्तं—जैसा कि कहा है—

ग्रार पर्याप्ता मिलकर २०२ गभज मनुष्य के प्रकार होते ह। उनम १०१ पर्याप्त मनुष्य के मल-मूत्रादि १४ स्थानो मे उत्पन्न होने वाले १०१ सम्मूर्छिम मनुष्य कहलाने हैं। ये ग्रपर्याप्ता अवस्था मे ही काल कर जाते ह, इसलिये इनके पर्याप्ता नही होते। इस प्रकार कुल मिलाकर मनुष्या के ३०३ प्रकार होते हैं।

शिष्य ने पूछा—भगवन् ! कर्म-भूमि किसे कहते हैं ?

उत्तर देते हुए गुरुदव ने कहा—जिस भूमि मे ग्रसि, मसि ग्रौर कृपि ग्रादि कम हो ग्रौर जहाँ राजा-प्रजा, स्वामी-सेवक, गुरु-शिष्य ग्रादि के सम्बन्ध से व्यवहार चलता हो। जहाँ मनुष्य कर्म-त्रिया करके ही व्यवहार ग्रौर परमार्थ (माक्ष) की साधना करते ह। उन भूमियो को कर्म भूमि कहते ह। कर्म-भूमि के १५ क्षेत्र हैं।

शिष्य—भगवन् ! कर्म-भूमि के १५ क्षेत्र कौन-कौन से हैं ग्रौर वे कहाँ-कहाँ हैं ?

गुरुदव ने कहा—५ भरत, ५ ऐरावत ग्रौर ५ महाविदेह, इस प्रकार कम-भूमि के १५ क्षेत्र हैं। इनमें एक भरत एक ऐरावत ग्रौर एक महाविदेह जम्बूद्वीप मे हैं। २ भरत, २ ऐरावत तथा २ महाविदेह घातकी खण्ड मे तथा २ भरत, २ ऐरावत ग्रौर २ महाविदह ग्रर्द्ध-पुष्करार्द्ध द्वीप मे ह। कर्म-भूमि क्षेत्र म तीर्थंकर, चक्रवर्ती, वलदेव ग्रादि मोक्षगामी उत्तम पुरुप होते हैं ता इसके विपरीत नरक भूमि मे गमन करने वाले महाग्रारभी, महापरिग्रही भी होते हैं। मुक्ति प्राप्त कराने वाली महाव्रत ग्रादि की साधना कर्म भूमि मे ही सम्भव है। ग्रन्यत्र कही सभव नही है।

शिष्य ने जिज्ञासा करते हुए पूछा—भगवन् ! भरत क्षेत्र का

थोड़ा स्पष्ट परिचय दीजिये, जिससे कर्म भूमि के अन्य क्षेत्रों को भी समझ सकूँ।

उत्तर मे गुरुदेव ने कहा—जम्बूद्वीप के चुल्ल हिमवन्त पर्वत से दक्षिण की ओर लवण समुद्र मे लगता हुआ ५२६ ६/१९ योजन ६ कला का भूमि भाग भारतवर्ष के नाम से कहा जाता है। दीर्घ वैताढ्य के कारण भारत के २ विभाग हो जाते है, जिसको उत्तर भरत और दक्षिण भरत कहते हैं। गंगा और सिन्धु ये २ नदियाँ दीर्घ वैताढ्य के अधोभाग से निकलकर लवण समुद्र में गिरती है। इन दोनों नदियों के कारण प्रत्येक के ३-३ विभाग होने से भरत क्षेत्र ६ खण्ड वाला कहा गया है। भारतवर्ष मे अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी काल का प्रवर्तन होता है जो इस प्रकार है—

अवसर्पिणी के ६ आरक होते हैं—

१. पहला ४ कोडा कोडी सागर प्रमाण का;
२. दूसरा ३ कोडा कोडी सागर प्रमाण का;
३. तीसरा २ कोडा कोडी सागर प्रमाण का;
४. चौथा १ कोडा कोडी सागर प्रमाण मे ४२ हजार वर्ष कम का;
५. पाँचवा २१ हजार वर्ष का;
६. छठा २१ हजार वर्ष का।

पहले, दूसरे और तीसरे आरक में वहाँ के मनुष्य भोग भूमि की तरह युगलिक होते है, उनके शादी-विवाह नही होते और न वे खेती-बाड़ी तथा व्यापार आदि धन्धा ही करते हैं। वे १० प्रकार के कल्प-वृक्षों से अपनी सभी आवश्यकताएँ पूरी करते हुए सुख से जीते हैं। तीसरे आरक के अन्त में जब कल्पवृक्ष प्रभावहीन हो जाते हैं, तब वहां के मानवकुलो की व्यवस्था जो विशिष्ट पुरुष करते हैं, उनको कुलकर के

नाम से कहा जाता है, वे तत्कालीन मानव समुदाय की व्यवस्था करते हैं। वैदिक परम्परा में कुलकरों को मनु कहते हैं। इस समय अवसर्पिणी के तीसरे आरक के अन्त में प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव ने इक्ष्वाकु भूमि में जन्म धारण कर जन समाज को युगलिक जीवन से कर्म करने का ज्ञान-बोध कराया और नीति और धर्मपूर्वक जीवन चलाने का ज्ञान कराया तथा राजधर्म समाजधर्म और आत्मधर्म के मार्ग बताये। इस प्रकार भारतवर्ष में अवसर्पिणी के तीसरे और चौथे आरक में २४ तीर्थंकर, १२ चक्रवर्ती, ६ बलदेव, ६ वासुदेव और ६ प्रतिवासुदेव इस प्रकार ६३ श्लाघ्य पुरुष होते हैं जो मोक्षगामी माने गये हैं। भारतवर्ष का वर्तमान पाचवा काल अवसर्पिणी का ५वा आरक है। उत्सर्पिणी में इन ६ ही आरकों का क्रम उल्टा होता है। अवसर्पिणी में जहा वस्तु में वर्ण, गंध, रस, स्पर्श और मनुष्यों के बलवीर्य मेधा आयु और धर्म-कर्म की तेजस्विता हीन हीनतर होती जाती है, वहाँ उत्सर्पिणी के वस्तु के वर्णादि और मनुष्यों के शील, स्वभाव, प्रेमादि में उत्तरोत्तर शुभता की वृद्धि होती है। इसलिए एक को अवसर्पिणी और दूसरे को उत्सर्पिणी काल कहा गया है।

शिष्य - गुरुदेव ! भारतवर्ष मे आपने ६३ शलाका-श्रेष्ठ पुरुष बतलाये, कृपा कर उनके नाम आदि का परिचय बतलाइये, तो बहुत बडा अनुग्रह होगा।

गुरुदेव ने कहा—अच्छा लो, तुम्हारी जिज्ञासा को शांत करने के लिए उन सबके नाम आदि बतलाये जाते हैं।

(अ) २४ तीर्थंकर

१ श्री ऋषभदेवजी	३ श्री संभवनाथजी
२ श्री अजितनाथजी	४ श्री अभिनन्दनजी

५. श्री सुमतिनाथजी	१५. श्री धर्मनाथजी
६. " पद्मप्रभजी	१६. " शान्तिनाथजी
७. " सुपार्श्वनाथजी	१७. " कुन्थुनाथजी
८. " चन्द्रप्रभजी	१८. " अरनाथजी
९. " सुविधिनाथजी	१९. " मल्लिनाथजी
१०. " शीतलनाथजी	२०. " मुनिसुव्रतजी
११. " श्रेयांसनाथजी	२१. " नमिनाथजी
१२. " वासुपूज्यजी	२२. " अरिष्टनेमिजी
१३. " विमलनाथजी	२३. " पार्श्वनाथजी
१४. " अनन्तनाथजी	२४. " महावीर स्वामीजी

तीर्थंकर के गर्भधारण के समय उनकी माता १४ शुभ स्वप्न देखती है। वे इस प्रकार है—१. गज, २. वृषभ, ३. सिंह, ४. लक्ष्मी, ५. पुष्पमाला, ६. चन्द्र, ७. सूर्य, ८. ध्वजा, ९. कुम्भ, १० पद्म सरोवर, ११. क्षीर समुद्र, १२. देव विमान, १३. रत्न राशि और १४. निर्धूम अग्नि। तीर्थंकर के जन्म कल्याणक पर स्वर्ग के ६४ इन्द्र आकर मेरु पर कल्याणक महोत्सव मनाते हैं। इनका विशेष परिचय जैन धर्म का मौलिक इतिहास प्रथम भाग या शलाका पुरुष चरित्र ग्रंथों से देखना चाहिये।

तीर्थंकर अपने समय की मध्यम आयु और शरीरमान के धनी होते है। उनका शरीर रूप, लावण्य और बल में अनुपम होता है। तप-संयम की साधना से केवलज्ञान प्राप्त करके वे चतुर्विध संघ की स्थापना करते हैं और आयु पूर्ण होने पर सिद्ध, बुद्ध, मुक्त पद को प्राप्त करते हैं। तीर्थंकर की तरह अनेक भव्य जीव भी उसी भव में मोक्ष प्राप्त करते है। २४ तीर्थंकरों में शान्ति, कुन्थु, और अर ये तीन तीर्थंकर चक्रवर्ती पद के भोक्ता बनकर तीर्थंकर बने। अतः इनके नाम दोनों में हैं।

(ब) १२ चक्रवर्ती

१	भरत (देश के प्रथम राजा, प्रथम चक्रवर्ती)	७	श्री अरनाथजी
२	श्री सगरजी	८	,, सुभूमजी
३	,, मघवाजी	९	,, पद्मजी
४	,, सनत्कुमारजी	१०	,, हरिषेणजी
५	,, शान्तिनाथजी	११	,, जयसेनजी
६	,, कुन्थुनाथजी	१२	,, ब्रह्मदत्तजी

चक्रवर्ती सम्पूर्ण भारतवर्ष के पट्खण्डाधिपति सम्राट् होते है । १४ रत्न, नव निधान और १६ हजार देव इनकी सदा सेवा मे रहते हैं । पूरे भारतवर्ष मे उनके समान बलवीर्य और सम्पदा मे तीर्थंकर के अतिरिक्त अन्य कोई मानव नही होता । चक्रवर्ती की माता भी तीर्थंकर की माता के समान १४ स्वप्न देखती है, पर वे स्पष्ट नहीं होते ।

(स) ९ बलदेव

१ श्री विजय	४ श्री सुप्रभ	७ श्री नन्दिमित्र
२ श्री अचल	५ श्री सुदर्शन	८ श्री राम-बलदेव
३ श्री सुधर्म	६ श्री नन्दी	९ श्री पद्म बलदेव

बलदेव को राम भी कहते है । बलदेव की माता उपरोक्त १४ स्वप्नो मे से ४ स्वप्न देखती हैं ।

(द) ९ वासुदेव

१ श्री त्रिपृष्ठ	४ श्री पुरुषोत्तम	७ श्री दत्त
२ श्री द्विपृष्ठ	५ श्री पुरुषसिंह	८ श्री नारायण
३ श्री स्वयभू	६ श्री पुरुष पुण्डरीक	९ श्री कृष्ण

वासुदेव चक्रवर्ती से आधे बल वाले होते है। इनकी माता उपरोक्त १४ स्वप्नों में से ७ स्वप्न देखती हैं। वासुदेव निदान कृत होते है, अतः वे स्वयं धर्म की आराधना नहीं कर सकते। प्रतिवासुदेव को जीतकर वासुदेव अर्द्ध-भरत अर्थात् ३ खण्ड के स्वामी होते है। वासुदेव को 'युद्ध सूरा' कहा गया है। श्री कृष्ण की तरह लोक-व्यवस्था में इनका प्रमुख हाथ होता है।

(य) ९ प्रतिवासुदेव

१. श्री अश्वग्रीव	४. श्री मधुकैटभ	७. श्री प्रह्लाद
२. श्री तारक	५. श्री निशुम्भ	८. श्री रावण
३. श्री मेरक	६. श्री बलि	९. श्री जरासन्ध

वासुदेव की तरह प्रति वासुदेव भी अर्द्ध भरत के स्वामी होते हैं। इनकी माता भी ७ स्वप्न देखती है। इन ६३ ही महापुरुषों का वर्णन जम्बू-द्वीप के भरत क्षेत्र की तरह अन्य ४ भरत और ५ ऐरावत क्षेत्र में भी समझना चाहिये।

६३ श्लाघा पुरुषो में से तीर्थंकर सब मोक्ष गये। १२ चक्रवर्तियों में से आठवें सुभूम एवं बारहवें ब्रह्मदत्त ये दो चक्रवर्ती अधोगति में गये शेष चक्रवर्ती मोक्ष गये। ९ बलदेव में से नवें पद्म बलदेव पांचवें देवलोक में गये शेष सब बलदेव मोक्ष में गये। वासुदेव तथा प्रतिवासुदेव सब अधोगतिगामी होते है।

शिष्य ने पूछा—भगवन्! आपने कर्म-भूमि और अकर्म-भूमि क्षेत्र का अन्तर कर्म करने और नहीं करने की अपेक्षा बतलाया है। इसके अतिरिक्त और भी कोई अन्तर है क्या?

गुरुदेव ने कहा—शिष्य! कर्म-भूमि और अकर्म भूमि में एक

वडा अन्तर यह है कि १५ कर्म-भूमि क्षेत्रो के जीव साधना द्वारा कर्म काटकर मोक्ष जा सकते हैं, किन्तु अकर्म भूमि क्षेत्र के मनुष्य मोक्ष म नही जा सकते। युगलिक होने से वे केवल देवगति म ही जाते है।

शिष्य—भगवन् ! छप्पन क्षेत्रो को अन्तर द्वीप क्यो कहा ?

गुरुदेव—लवण समुद्र के बीच मे होने से अथवा परस्पर द्वीपो मे अन्तर होने से ये ५६ क्षेत्र अन्तरद्वीप कहलाते है। अकर्म भूमि की तरह अन्तर द्वीप मे भी असि, मसि, कृषि—किसी भी प्रकार का कर्म, धन्धा नही होता। यहाँ भी कल्पवृक्ष होते हैं। अन्तर द्वीप मे रहने वाले मनुष्य अन्तर-द्वीपज कहलाते ह। व एकान्त मिथ्या दृष्टि होते है।

शिष्य—भगवन् ! अब देवगति के सम्बन्ध मे जानकारी देने की कृपा करावें ?

गुरुदेव—देवगति के जीव चार जातियो मे विभक्त किये गए है, जो १ भवनपति, २ व्यन्तर, ३ ज्योतिष्क व ४ वैमानिक नाम से कहे जाते ह।

शिष्य—भगवन् ! भवनपति कितने प्रकार के होते हैं ?

गुरुदेव ने फरमाया—भवनपति दस प्रकार के है—१ असुरकुमार, २ नागकुमार, ३ सुवर्णकुमार, ४ विद्युत्कुमार, ५ अग्निकुमार, ६ द्वीपकुमार, ७ उदधिकुमार, ८ दिशाकुमार, ९ पवनकुमार और १० स्तनितकुमार। इनके अपर्याप्ता और पर्याप्ता मिलकर बीस भेद होते हैं।

शिष्य—भगवन् इन्हे भवनपति क्यो कहा गया है ?

गुरुदेव—अधोलोक के भवनो मे रहने के कारण इन्ह भवनपति कहा गया है।

शिष्य—भगवन् परमाधामी (परमाधार्मिक) देव कितने हैं ?

गुरुदेव—१५ परमाधामी (भवनपति के अन्तर्गत) कहे गये है।

१. अम्ब	६. महारौद्र	११. कुम्भ
२. अम्बरीप	७. काल	१२. वालुका
३. श्याम	८. महाकाल	१३. वैतरणी
४. शवल	९. असि पत्र	१४. खरस्वर
५. रौद्र	१०. धनुष्य	१५. महाघोप

ये १५ तरह के देव तीसरी नारक तक के जीवों को विविध प्रकार की वेदना देते है। १५ परमाधामी के अपर्याप्ता और पर्याप्ता मिलकर तीम भेद होते है।

परमाधामी देवों के सम्बन्ध में शिष्य ने पूछा—भगवन् ! हिन्दू परम्परा के पुराणों में श्याम सबल के अतिरिक्त और कोई नाम उपलब्ध नहीं होते, वहाँ यमराज आदि जिनकी बात आती है, वे कौन हैं ?

गुरुदेव ने कहा—हिन्दू शास्त्रो में वर्णित 'यम' की वात जैन परम्परा में नही मानी जाती, किन्तु असुर जाति के परमधामी देव ही शेर, चीता एवं पक्षी और दानव का रूप वनाकर नारक जीवों को त्रास देते हैं और नारक जीवों को कष्ट देने का काम करते है।

शिष्य—भगवन् ! अब व्यन्तर देवों के सम्बन्ध में फरमाने की कृपा करावें।

गुरुदेव—तिरछे लोक में वनों के अन्तर आदि स्थानों मे रहने वाले देवों को व्यंतर कहते हैं। ये १६ प्रकार के हैं।

१. पिशाच	५. किन्नर	९. अणपण्णे	१३. कन्दे
२. भूत	६. किम्पुरुप	१०. पाणपण्णे	१४. महाकन्दे
३. यक्ष	७. महोरग	११. इसिवाई	१५. कूहण्डे
४. राक्षस	८. गन्धर्व	१२. भूयवाई	१६. पयंगदेय

व्यन्तर के भेदों मे दस जृम्भक देव भी आते है, जैसे—१ अन्न जृम्भक, २ पान जृम्भक, ३ लयन जृम्भक, ४ शयन जृम्भक, ५ वस्त्र जृम्भक, ६ फल जृम्भक, ७ पुष्प जृम्भक, ८ फल पुष्प जृम्भक, ६ विद्या जृम्भक और १० अग्नि जृम्भक। इस प्रकार इन (१६+१०) २६ देवो के अपर्याप्त और पर्याप्त इन दो प्रकारो मे कुल ५२ भेद होते है।

शिष्य—भगवन्! इन दस को जृम्भक देव क्यो कहा जाता है?

गुरुदेव जृम्भक देव नाना प्रकार की चेष्टा करने वाले होते है। वे जिन पर प्रसन्न हो जाते है उन नगरवासियो को अन्न आदि से सन्तुष्ट करते हैं। और जिन पर अप्रसन्न होते है उनका हानि पहुचाने की चेष्टा करते है। अत इनके अन्न जृम्भक आदि नाम रखे गए हैं। (देखें भगवती सूत्र)।

शिष्य—भगवन्! व्यन्तर देव के जो १६ भेद बतलाये गए हैं उनसे भूत, प्रेत, जिन्द, पित्तर आदि किसमे आते हैं?

गुरुदेव—आजकल माने जाने वाले पित्तर आदि का इन सोलहो से अलग अन्य प्रकार का उल्लेख नही आता। तिरछे लोक के वन, वनखण्ड और शून्य घरो मे रहने के कारण इन सबको व्यन्तर जाति मे ही मानना उचित है। इस विषय मे विशेषज्ञ और कुछ गहराई से चिन्तन कर प्रकाश डालें ऐसी अपेक्षा है।

शिष्य ने कहा—भगवन्! देवो के तीसरे प्रकार मे ज्योतिष्क बताये गये हैं, तो ज्योतिष्क देव कौन और कितने प्रकार के है?

गुरुदेव ने कहा—अपने विमान की प्रभा से प्रकाश फैलाने वाले

देवों को ज्योतिष्क कहते हैं, ये ५ प्रकार के है—चन्द्र, सूर्य, ग्रह, नक्षत्र और तारा। ये भी तिरछे लोक अर्थात् मध्य लोक में ही रहते हैं। इनमें चर और अचर दो भेद माने गए हैं। जो विमान एक जगह से दूसरी जगह चलते रहते हों उन्हें चर और जिनके विमान एक जगह स्थिर रहते हो उनको अचर कहा गया है।

शिष्य—भगवन्! चर और अचर ज्योतिष्क कहाँ रहते हैं?

गुरुदेव ने कहा—चर ज्योतिष्क मनुष्य-लोक के भीतर मण्डल गति से भ्रमण करते रहते है और अचर ज्योतिष्क मनुष्य लोक के बाहर ज्योति फैलाये रहते है। इस प्रकार ५ चर और ५ अचर के अपर्याप्ता और पर्याप्ता मिलकर कुल २० भेद ज्योतिष्क के होते हैं।

शिष्य—भगवन्! अब वैमानिक देवों के सम्बन्ध भी बताने की कृपा करें। इनके कितने भेद हैं?

गुरुदेव ने कहा—वैमानिक देवों को मूल दो भागों में बाँटा गया है, जैसे—१. कल्पवासी और २. कल्पोत्तर कल्पवासी देवों के २४ प्रकार कहे गए हैं जो इस प्रकार हैं—१२ देवलोक, ३ किल्विपिक, ६ लोकान्तिक। १२ देवलोक का स्पष्टीकरण इस प्रकार है—१. सौधर्म २. ईशान, ३. सनत्कुमार, ४. माहेन्द्र, ५. ब्रह्मलोक, ६. लान्तक, ७. महाशुक्र, ८. सहस्रार, ९. आनत, १०. प्राणत, ११. आरण और १२. अच्युत।

इन विमानों में रहने वाले देवों को अपनी मर्यादा का पालन करना होता है। इनमें १. इन्द्र, २. सामानिक, ३. त्रायत्रिंशत, ४. लोकपाल आदि पदों की व्यवस्था है। इनकी तीन परिषद् होती हैं। १. अभितरिया, २. मज्झिमिया और ३. बाहिरिया। करणीय कार्य के लिये पहली परिषद् में मंत्रणा होती है फिर मध्य परिषद्

मे निर्णय होने पर बाह्य परिषद् मे निर्णीत कार्य का प्रचार होता है। आज की भाषा मे कार्यकारिणी और सामान्य परिषद् के नाम से है। ये अपने-अपने इन्द्र के अधीन रहते हैं। विमानो मे उत्पन्न होने और घूमने के कारण इन्हे वैमानिक कहा जाता है। भवनपति आदि सभी प्रकार के देवो द्वारा तीर्थंकर के जन्म, दीक्षा, केवलज्ञान और निर्वाण आदि प्रसगो पर कल्याणक मनाने को देवो मे आने की मर्यादा है। जिसे जीताचार कहते है।

किल्विष का अर्थ पाप होता है। पापयोनि वाले हल्के दर्जे के देवो को किल्विषक कहते हैं। स्थान और स्थिति की अपेक्षा इनके ३ प्रकार हैं। १ तीन पल्य की स्थिति वाले जो प्रथम एव दूसरे देवलोक के नीचे अर्थात् वैमानिक देवों की पक्ति से बाहर रहते हैं। दूसरे ३ सागर की स्थिति वाले तीसरे, चौथे देवलोक के नीचे रहते है। तीसरे १३ सागर की स्थिति वाले ५वें कल्प के ऊपर और छटठे देवलोक के नीचे रहते है। देवो की सभा मे इनका सम्मान नही होता, इनके बालने पर सभा के देव आवाज देकर इनको बिठा देते हैं।

लोकातिक देव नव होते हैं, इनके नाम निम्न हैं—१ सारस्वत, २ आदित्य, ३ वह्नि, ४ वरुण, ५ गर्द्दतोय, ६ तुषित, ७ अव्वाबाह, ८ अग्गिच्चा और ६ रिट्ठा हैं। तीर्थंकरो की दीक्षा प्रसगो पर लोकातिक देव स्मृति दिलाने के लिये जाते हैं और निवेदन करते हैं कि भगवन्! भव्यजना को धर्म का प्रतिबोध दीजिये। मध्यलोक के अन्त म होने से इनको लोकान्तिक कहते है। इन २४ देवा के अपर्याप्ता और पर्याप्ता, इस प्रकार ४८ भेद होते है।

शिष्य—भगवन्! ये कल्पवासी देव कहाँ रहते हैं?

गुरुदेव—कल्पवासी देव ऊँचे लोक के विमानो मे रहते हैं। बारह देव-लोक क्रम से एक के ऊपर एक इस प्रकार अवस्थित है।

किन्तु इनमें से पहला-दूसरा, और तीसरा-चौथा, नवाँ-दसवाँ, ग्यारहवाँ-बारहवाँ ये आपस मे एक दूसरे के समान ऊँचाई पर स्थित है।

शिष्य—कल्पोत्तर देवों के कितने प्रकार हैं ?

गुरुदेव ने फरमाया—कल्प-मर्यादा से अतीत अर्थात् परे होने के कारण इनको कल्पोत्तर अथवा कल्पातीत कहा है। इनमें कोई इन्द्र सामाजिक आदि नही होते, सभी स्वशासित अहमिन्द्र ही होते हैं। इनमें ९ ग्रैवेयक इस प्रकार है—१. भद्र, २. सुभद्र, ३. सुजात, ४. सुमनस, ५. सुदर्शन, ६. प्रियदर्शन, ७. अमोह, ८. सुप्रतिबुद्ध और ९. यशोधर। तथा ५ अनुत्तर-विमान १. विजय, २. विजयंत, ३. जयंत, ४. अपराजित और ५. सर्वार्थ सिद्ध। ऐसे (९ + ५) १४ के अपर्याप्ता और पर्याप्ता कुल २८ भेद होते हैं।

शिष्य—भगवन् ! कल्पातीत देवता कहाँ रहते हैं ?

गुरुदेव ने कहा—बारहवें देवलोक से असंख्यात योजन ऊपर तीन त्रिकों में क्रमशः तीन-तीन ग्रैवेयक देवो मे विमान है। ग्रैवेयक से असंख्यात योजन ऊपर ५ अनुत्तर विमान हैं। चार कोनों में चार विमान और मध्य में सर्वार्थसिद्ध विमान कहा गया है। सर्वोत्कृष्ट शब्द, रूप, रस, गंध, स्पर्श की उपलब्धि होने से इन्हे अनुत्तर संज्ञा से सम्बोधित किया जाता है। अनुत्तर विमान के देवों में क्रोध, मान, माया, लोभ, उपशान्त से होते हैं।

शिष्य—भगवन् ! ६४ इन्द्र कौन से हैं ?

गुरुदेव ने उत्तर देते हुए कहा—दस भवनपति, सोलह व्यन्तर २६ इनमें प्रत्येक के उत्तर और दक्षिण, इस प्रकार दो-दो इन्द्र हैं अतः कुल ५२ इन्द्र हुये। दो ज्योतिषी में (चन्द्र और सूर्य) और १२ देवलोक के १० इन्द्र, ऐसे कुल ६४ इन्द्र होते है। ये ६४ इन्द्र तीर्थंकरों

के जन्म-दीक्षा आदि पंच कल्याणक मनाने मनुष्यलोक में आते हैं। यह इनका जीत व्यवहार है।

शिष्य—भगवन्! जीव और आत्मा एक ही है या भिन्न-भिन्न है?

गुरुदेव—वास्तव में जीव और आत्मा में कोई मौलिक अन्तर नहीं है। जैसा कि कहा है—"जीवतिप्राणान् धारयतीतिजीव" जीव शब्द जीवन धारण की अपेक्षा है, जबकि आत्मा का अर्थ एक पर्याय से दूसरी पर्याय में जाते रहना है।

इस प्रकार गति, शरीर, आदि पर्यायों की अपेक्षा जीव के ५६३ भेद किये गये हैं। ऐसे दृष्टि, दर्शन, ज्ञान, अज्ञान आदि गुणों की अपेक्षा जीव के अन्य प्रकार भी होते हैं। उनको यथास्थान समझ लेना चाहिये।

जीव के भेद, प्रभेदों का परिचय सुनकर शिष्य ने कहा—भगवन्! जीव चेतना लक्षण और ज्ञान दर्शन स्वरूप वाला है, तब उसके विविध भेद कैसे कहे जाते हैं?

गुरुदेव ने उत्तर देते हुए कहा—वास्तव में मूल—धर्म और स्वभाव में तो जीव एक उपयोग, गुणवाला है फिर भी कर्म-युक्त होने से संसारी जीव गति, जाति, आदि पर्यायों के कारण अनेक भेदों में विभक्त है, जैसे—आकाश से गिरा हुआ पानी एक ही प्रकार का होता है, पर नदी, तालाब और कुए में गिरकर अनेक नाम और गोत्र को प्राप्त कर लेता है, ऐसे ही जीव भी कर्म के कारण गति, जाति आदि अनेक प्रकार को पाकर विविध भेद वाला होता है।

शिष्य—भगवन्! पृथ्वीकाय आदि स्थावरों में सुख-दुःख का वेदन ज्ञात नहीं होता, फिर इनको जीव कैसे समझा जावे?

गुरुदेव ने कहा—पृथ्वीकाय आदि में चर्म चक्षु से देखने वाले

को भले स्पष्ट रूप से सुख-दुःख ज्ञात न हो फिर भी उनमें अस्पष्ट चेतना होने से उन्हें भी जीव मानना चाहिये। जैसे—किसी जन्म से अंधे गूँगे, बहरे और गतिहीन बालक को क्लोरोफार्म आदि की मूर्च्छा में कोई अंग-प्रत्यंग का छेदन-भेदन करे—भाला बर्च्छी आदि शस्त्र का प्रहार करे, तो उस समय बालक की कोई चेष्टा नही होने पर भी उसमें जीव माना जाता है और जैसे उसको अव्यक्त वेदना होती है वैसी ही पृथ्वीकाय आदि स्थावरो मे भी वेदना होती है। अपनी अस्पष्ट चेतना मे वे सुख-दुःख को व्यक्त नहीं कर सकते, तथापि जन्मांध बालक की तरह उन्हें भी सजीव ही मानना चाहिये।

शिष्य—भगवन् ! जीव ऊर्ध्वगतिगामी होकर भी निम्न गति में क्यों भटकता है ? क्या ऐसा ही उसका स्वभाव है अथवा अन्य कोई कारण है।

गुरुदेव ने कहा—वास्तव में निम्न गति में भटकना जीव का स्वभाव नहीं है, वह तुम्बे की तरह जल के सतह पर तिरने वाला है, किन्तु कीचड़ की चिकनी मिट्टी के सघन लेप से भारी बना हुआ तुम्बा जैसे जलाशय में डुबा रहता है, ऐसे ही कर्म भार से भारी बना हुआ जीव अधोगति मे भटकता है। तुम्बे का बन्धन और लेप सर्वथा हटने पर तुम्बा जल के ऊपर तैरने लगता है। इसी प्रकार जीव के फल भोग और निर्जरा से जब कर्म हल्के हो जाते हैं तब जीव ऊपर उठता हुआ एक दिन सर्वथा कर्म-मल के गल जाने पर वह शुद्ध, बुद्ध होकर अनन्त कर्म की वर्गणा से पर लोकाग्र पर स्थित होता है।

शिष्य ने जिज्ञासा करते हुए पूछा—भगवन् ! भारी होने से जीव नीचे जाता है, तो यह समझाइये कि यह भारी कैसे होता है ?

गुरुदेव ने उत्तर देते हुए कहा—अन्तेवासी ! जीव प्राणाति-पात (हिंसा) झूठ आदि अठारह पापों के सेवन से भारी होता है

और भारी होकर चतुर्गति रूप संसार में अनन्त काल तक भटकता रहता है।

शिष्य ने विनय के साथ अपने मन की शंका प्रस्तुत करते हुए कहा—भगवन् ! अठारह पापों से जीव भारी होता है, ऐसे उसके हल्के होने का भी उपाय है क्या ? कृपया समझाने का कष्ट करें।

उत्तर देते हुए गुरुदेव ने कहा—चिरजीव शिष्य ! हिंसा आदि अठारह पापों के विरमण अर्थात् परिवर्जन से जीव हल्का होता है और हल्के होने से ऊपर आता है एवं धर्म क्रिया से चार गति और ८४ लक्ष जीव योनि रूप संसार के परिभ्रमण का अंत कर लेता है।

अत्यन्त प्रमोद-भाव से शिष्य ने कहा—भगवन् ! जीव के भारी होने और हल्के होने के सम्बन्ध में आपने जो समाधान किया, उससे मेरी शंका सर्वथा दूर हो गई। अब यह समझाने की कृपा करें कि जीव और कर्म का सम्बन्ध कब और कैसे होता है ?

गुरुदेव ने स्पष्ट करते हुए कहा—जिस प्रकार भूमि में स्वर्ण के साथ मिट्टी के परमाणुओं का सम्बन्ध कब से है यह नहीं बताया जा सकता, इसी प्रकार जीव के साथ कर्म-रज का सम्बन्ध भी किसी अमुक काल से हुआ, यह कहना सम्भव नहीं है, इसीलिये जीव और कर्म का सम्बन्ध अनादि काल से कहा गया है। जैसे स्वर्ण के साथ अनादि काल से मिट्टी का सम्बन्ध होते हुए भी रसायन प्रक्रिया से मिट्टी के दूर हो जाने पर स्वर्ण रज-मुक्त शुद्ध हो जाता है, उसी प्रकार अनादि काल से कर्म-रज से लिप्त जीव भी तप और संयम की रासायनिक प्रक्रिया से शुद्ध होकर सर्वथा कर्म-मुक्त हो सकता है।

शिष्य ने पूछा—भगवन् ! मानव जगत् में देखा जाता है कि कोई मनुष्य चोरी, अन्याय आदि अपराध करता है तो, उसे दण्डाधिकारी द्वारा सजा दी जाती है, वैसे संसार के जीवों को पापकर्म का दण्ड देने के लिए क्या यमलोक में यमराज या अन्य कोई व्यवस्था करता है जिससे जीव अपने पाप की सजा भोग सके क्योंकि कोई भी प्राणी पाप करके स्वयं सजा भोगना नहीं चाहता। उसका शास्त्रों में क्या खुलासा बताया है ? समझाने की कृपा करें।

उत्तर में गुरुदेव ने कृपा करके कहा— जिज्ञासु शिष्य ! जन साधारण की तरह वीतराग मार्ग जीवों को सजा देने के लिए यमराज या किसी ईश्वर विशेष को दण्ड प्रदाता नही मानता। किन्तु जैसे शरीर पर लगे हुए चन्दन, सुण्ठि एवं लोंगयुक्त का लेप स्वयं अपने स्वभाव से शीतलता देता है एवं वात निवारण का काम करता है ऐसे ही आत्मा पर लगे हुए शुभाशुभ कर्म स्वभाव से ही अच्छा-बुरा फल देते हैं। उनको दण्ड दान में किसी माध्यम की आवश्यकता नही होती। जैसे दुग्ध और मद्य का पान करने वालो को दुग्ध से बल वृद्धि और मद्य से मादकता स्वभाव से ही प्राप्त होती है। विष भक्षण करने वाले के प्राणघात मे किसी दण्डनायक द्वारा दण्ड की आवश्यकता नही होती है। व्यभिचारी छुपकर व्यभिचार करता है, पर शरीर पर क्षीणता स्वभाव से ही प्रकट हो जाती है। इसी प्रकार शुभकर्म करने वाले को शुभ फल और अशुभ कर्म करने वाले को अशुभ फल स्वभाव से ही मिलता है उनके फल दान मे किसी दण्डनायक की आवश्यकता नही होती। दण्डनायक तो गल्ती कर सकता है, पर वस्तु के स्वभाव में गल्ती नही होती। कँटीले वृक्ष के बीज बोने वाले को कांटे और आम्र-वृक्ष के बीज बोने वाले को मधुर फल स्वभाव से ही मिलते हैं। इसीलिये अनुभवियों ने कहा है—"स्वयं कर्म करोत्यात्मा, स्वयं तत्फलमश्नुते।" अर्थात् आत्मा स्वयं ही शुभाशुभ करती है और

स्वय ही उसका फल भोगती है। लोकप्रिय तुलसीदासजी ने कहा है—
"कर्म प्रधान विश्व करि राखा। जो जस करही सो तस फल चाखा॥"
वस्तु के गुण धर्म का प्रभाव विज्ञान द्वारा भी आज जन प्रसिद्ध हो चुका है। लोग जानते है कि अज्ञात दशा मे भी विद्युत के तारो का स्पर्श, स्पर्श करने वाले का प्राण हरण कर लेता है, हर कोई जानता है कि इसमे किसी दण्डाधिकारी के आदेश की आवश्यकता नहीं होती। ऐसे ही पाप कर्म भी ज्ञात या अज्ञात रूप से किया जाय, तब भी वह कर्ता को दुःख की आग से जलाता ही है।

शिष्य—भगवन्! जैन सिद्धान्त के अनुसार जीव स्वय ही कर्म का सचय करता और स्वय ही उसका फल भोगता है, यहाँ पर शका होती है, कि जीव स्वय अपने शुभ कर्म के तो सहर्ष फल भोग लेगा, पर अशुभ कर्मों को कैसे भोगेगा? जड होने से कर्म स्वय फल देने की स्थिति मे कैसे हो सकते हैं?

गुरुदेव ने कहा—शिष्य! "जीव के सम्बन्ध से" कर्म जड होकर भी क्रिया के अनुसार अपने शुभाशुभ फल देता है। जैसे सूर्य किरणो के सयोग से सूर्यकान्त मणि वस्त्र को जला देती है और चन्द्र की कान्ति से चन्द्रकान्त मणि जल की बूँदें गिराने लगती है, मिर्च मे तेजी, नमक मे तीखापन, व शक्कर मे मिठास होता है, वैसे ही जड होकर भी कर्म शुभाशुभ फल देने मे समर्थ होते हैं। भगवती सूत्र मे कालोदायी के प्रश्न का उत्तर देते हुए भगवान् महावीर ने इसको स्पष्ट रूप से समझाया है।

शिष्य—भगवन्! भगवान महावीर ने कालोदयी को किस प्रकार पुण्य-पाप के फल देने की वार्ता बतलाई है? कृपा कर हमे भी समझाइये।

गुरुदेव ने कहा—भगवती सूत्र के शतक ७ उद्देशक १० मे

वर्णन आता है कि कालोदायी ने प्रभु मे पूछा कि भगवन् ! क्या जीवों के पाप, पापफल के विपाक वाले होते है ? उत्तर में प्रभु ने कहा हाँ कालोदयी ! पाप कर्म कटु फल देने वाले है। कालोदयी ने पूछा भगवन् ! पाप अशुभ विपाक वाले कैसे होते है ?

प्रभु ने कहा—कालोदायी ! जैसे कोई मनुष्य १८ प्रकार के व्यंजन युक्त, विप-मिश्रित थाली पाक का भोजन करे तब उसको वह भोजन तत्काल मधुर और स्वादिष्ट लगता है, किन्तु पीछे शरीर आदि में परिणत होता हुआ पीड़ाकारी हो जाता है, इसी प्रकार हे कालोदायी ! प्राणातिपात आदि पाप जीव को तत्काल में रमणीक लगते है, परन्तु पीछे फलोदय के समय कण्टकारी एवं दुःखदायी होते हैं। इसलिए कहा गया है कि जीवों के पाप अशुभ फल के विपाकयुक्त होते हैं। उनको अपना फल देने के लिए किसी अन्य सहायता की आवश्यकता नही होती। सैकड़ों गायों के झुण्ड में बछड़ा जैसे अपनी माँ को पहचान लेता है, वैसे ही कर्म अपने तथाविध स्वभाव से अपने कर्ता को पहचान लेता है। अर्थात् चुम्बकीय शक्ति से वह कर्ता के पास ही पहुँचता है।

जैसे—उत्तराध्ययन सूत्र के अध्याय १३ गाथा २३ मे प्ररूपणा की गई है।

न तस्स दुक्खं विभमंति नाईओ, न मित्तवग्गा न सु यान बंधवा।
एक्को सयं पच्चणु होइ दुक्खं, कत्तारमेव अणुजाइ कम्मं॥

उस पापी जीव के दुःख को न जाति वाले बँटा सकते है और न मित्र मंडली, पुत्र बंधुगण ही बँटा सकते हैं। वह स्वयं अकेला ही दुःख भोगता है क्योंकि कर्म कर्ता का ही अनुगमन करता है।

शिष्य—भगवन् ! पाप-कर्म की तरह पुण्य-कर्म के फल के सम्बन्ध में प्रभु ने क्या समझाया है ? कृपा कर स्पष्ट कीजिए।

गुरुदेव ने कहा—कालोदायी के उत्तर मे प्रभु ने कहा कि जीवो के कल्याण कर्म कल्याण फल वाले होते हैं। उदाहरण के साथ स्पष्ट करते हुए समझाया—जैसे कोई पुरुष अच्छी तरह पकाए गए १८ प्रकार के व्यजनयुक्त औषधिमिश्रित भोजन करे तब वह भोजन तत्काल औषध के स्वाद से रमणीक नही लगता, परन्तु शरीर म परिणत होकर बल, वीर्य और अग उपागो का बढाकर स्फूर्तिदायी होता है, खाने वाले को शरीर मे साता मालूम देती है। उसी प्रकार कल्याण कर्म भी तत्काल मे रमणीक नही लगते हिंसा विरमण आदि शुभ क्रियाएँ करते समय नीरस मालूम देती हैं, किन्तु पीछे परिणाम के समय सुखदायी एव प्रमादकारी होती है।

आज के विज्ञान से भी यह स्पष्ट है कि विद्युत के सहकार से शब्द हजारो कोस दूर अपने सकेत अपने स्थान पर पहुँचकर कार्य करते दिखाई देते हैं। अनक रेडियो-स्टेशनो के बावजूद भी शब्द अपने नम्बर (Freequency) वाले रेडियो से ही सम्बन्ध करते हैं। अ तरिक्ष मे सकेत भी यथास्थान प्राप्त होते हैं। दुग्धपान आर विषपान से बलवृद्धि और प्राणहरण प्रत्यक्ष देखा जाता है। फिर आत्मा द्वारा कृत कम अपन शुभाशुभ फल प्रदान करें, इसमे सशय की बात ही क्या है।

शिष्य—भगवन् ! आपने जीव के लक्षण मे ज्ञान, दर्शन आदि बतलाये। जो जानकार ही समझ सकते हं, साधारण व्यक्ति जीव की चेतना को सहज समझ सकें, ऐसी कोई पहचान बताई जाय तो अच्छा होगा।

गुरुदेव ने शिष्य पर अनुकम्पा करते हुए कहा—चिरजीव शिष्य ! सूक्ष्मद्रष्टा महर्षियो ने छोटे-बडे जीव मात्र मे जो चार सज्ञायें बतलाई है, उनस जीव की चेतना का परिचय प्राप्त हो सकता है।

शिष्य ने पूछा—भगवन् ! वे संज्ञायें कौनसी है ?

उत्तर में गुरुदेव ने कहा—चार संज्ञायें निम्न है—१. आहार संज्ञा, २. भय संज्ञा, ३. मैथुन संज्ञा और ४. परिग्रह संज्ञा । संज्ञायें दस कही गयी है किन्तु उनमे मुख्य ये ही चार है ।

संसारस्थ सभी जीवों में प्रायः आहारादि की इच्छा पाई जाती है । आहार, भय आदि संज्ञाये स्थावर जीवों में भी लक्षित होती है । वनस्पति के छोटे-मोटे पौधे द्रव्य मन के अभाव में भी शुष्कता अनुभव करते है और अपने मूल तन्तुओं से आसपास जिधर भी आर्द्रता और जलस्रोत होता है, उस ओर अपनी जडो को फैलाते हुए खुराक ग्रहण करते हुए दिखाई देते हे । अग्नि की ज्वालाएँ भी आसपास के ईंधन और वृक्षो को लपककर भस्मसात करती देखी जाती हैं । वृक्षों में सर्दी, गर्मी या प्रतिकूल स्पर्श को पाकर संकोच विस्तार देखा जाता है । लज्जावती की तरह कई पौधे अंगुली लगते ही सिकुडते देखे गए है । वृक्ष और लताओं को आसपास में गडी द्रव्य राशि को अपनी जड़ो को समेटकर रखे पाया गया है । कुछ वनस्पतियाँ, कीट-पतंग और मक्खियो को पत्तो पर बैठते ही पकड़ने की चेष्टा करती है और उनको अपने अंगों में जकड़ लेने की वृत्ति वाले घटपर्णी आदि मांसाहारी पौधे देखे गये है । कीट-पतंग आदि व्यक्त चेतना वाले की संज्ञाएँ सहज परिलक्षित होती हैं । अच्छी खाद्य सामग्री देखकर जीभ लपलपाना, भय के कारण अथवा किसी के आक्रमण की आशंका होते ही सिकुड़ना, भागना और मैथुन के भावों में परस्पर लड़ना, झगड़ना, मार भगाना और अपने अधीन के भोजन के स्थान पर मधुमक्खी की तरह कब्जा करना, ये सब बातें पशु-पक्षी और कीड़ों में भी देखी जाती हे । इसलिए शास्त्र में जीव मात्र में इन संज्ञाओ का होना बतलाया है । ये संज्ञाएँ सामान्य रूप से जीवों के जीवन की पहिचान कराने वाली है ।

शिष्य—भगवन् ! जीव की विशेष शक्ति क्या है ?

गुरुदेव ने कहा—जीव की विशेष शक्तियाँ पाच हैं—१ उत्थान, २ कम, ३ वल, ४ वीय, व ५, पुरुषाकार पराक्रम । छोटे से किसी वीज को लीजिये । सजीव और निर्जीव दोनो वीजो को खेत की मिट्टी मे दवा दिये जायें । उनमे जो वीज सजीव हैं उसमे समय पाकर उत्थान गुण से अकुर ऊपर उठा दीखेगा । वह क्रम से मिट्टी दल को भेदन करता तथा वलशक्ति से वाहर निकलता और वीर्य एव पराक्रम द्वारा पत्र एव पुष्पादि अवयवो से विस्तार पाता है, जवकि दूसरा सत्व-हीन वीज मिट्टी मे गलकर नष्ट हो जाता है । निर्जीव वीज मे उत्थान आदि की क्रियाएँ नही होती । वे निर्जीव ककर की तरह दवे रह जाते ह, लेकिन सजीव वीज मिट्टी मे दवा हुआ भी ऊपर उठता ह और अपने छोट रूप का विस्तार प्रकट करता है । यही सजीव की विशेयता ह । सजीव वीज मिट्टी और ककरो की ढेरी मे से भी ताकत लगाकर वाहर आ जाता है । यह जीव के गुण का प्रभाव है ।

शिष्य—भगवन् ! जीव की आन्तरिक विविध दशाओ के परिवर्तन का प्रारूप क्या है ? उसे क्या कहते है ?

उत्तर देते हुए गुरुदेव ने कहा—शास्त्र मे जीव के पाँच भाव वतलाए गए हैं, उनके कारण अन्तर की दशाओ मे विविध परिवर्तन होते रहते हैं । तत्त्वाथ सूत्र मे कहा गया ह कि—"औपशमिक क्षायिकौ भावौ मिश्रश्च जीवस्य स्वतत्त्वमौदयिक पारिणामिकौ च ।" अर्थात् औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक ये जीव के स्वतत्त्व हैं । ऐसे औदयिक और पारिणामिक भी जीव के भाव है । ये भाव कारण हैं और जीव की विभिन्न दशाएँ कार्य (फल) हैं । मिथ्यात्व मोह और कपायो के उपशम होने से आत्मा, सम्यग्दर्शन और उपशम चारित्र की प्राप्ति करता ह, ये दोना औपशमिक तथा क्षायोपशमिक

भाव के फल हैं। ज्ञान और दर्शन में जो न्यूनाधिकता होती है और दान, लाभ, भोग, उपभोग आदि में विघ्नों का न्यूनाधिक होना क्षायोपशमिक भाव का परिणाम है, कर्म के उदय से होने वाली शरीर और मन की दशाएँ उदय भावजन्य है। सुरूप, कुरूप, सबल, निर्बल, क्रोध, मान, माया, लोभ और कामादि विचारों का मन में उदय होना औदयिक भाव के कार्य है। जीवत्व, भव्यत्व और अभव्यत्व ये ३ परिणामिक भाव जन्य है। औपशमिक क्षायिक और क्षायोपशमिक भाव से कर्मो का उपशम-क्षय और क्षयोपशम होने से जीव के गुण प्रकट होते है और उदय भाव से तन और मन पर असर होता है। पारिणामिक भाव अनादि अनन्त और भव्यत्व की अपेक्षा अनादि सान्त होता है। क्षायिक भाव आदि अनन्त है। औदयिक, औपशमिक और क्षायोपशमिक भाव सादि सान्त होता हैं। इन्ही भावों के कारण जीव के शारीरिक, मानसिक और आन्तरिक गुणो मे विविध परिवर्तन होते हे।

शिष्य ने जिज्ञासा भाव से पूछा—गुरुदेव ! जीवात्मा के ६ स्थान कहे जाते हैं, वे कौन से हैं ?

गुरुदेव ने कहा—जीवात्मा के षट् स्थान इस प्रकार है—१. आत्मा है और शाश्वत है, २. आत्मा चेतन लक्षण वाला हे, ३. मिथ्यात्व आदि कारणों से शुभाशुभ कर्म का कर्ता है, ४. कर्मानुसार सुख-दुःख का भोक्ता है, ५. भव्य जीव आठ कर्मो का क्षय कर मुक्ति प्राप्त करता है, ६. मोक्ष के उपाय सम्यग् ज्ञान, सम्यग् दर्शन, सम्यग् चारित्र और सम्यग् तप हे। वीतराग महर्षियों ने अनुभव किया है कि जीव न तो पंचभूतों के संयोग से उत्पन्न है और न अन्य किसी के द्वारा उत्पन्न किया गया है, अपितु अनादि अनन्त है। अतः पहले स्थान में जीव को शाश्वत कहा गया है। दूसरे स्थान मे जीव का

लक्षण, ज्ञान और दर्शन रूप उपयोग माना है जैसा कि कहा है–'जीवो उवओग लक्खणो' (उत्तराध्ययन २८ अ०)।

तीसरे स्थान में जीव का कर्म का कर्ता कहा गया है वह विभाव की अपेक्षा है। स्वभाव से तो वह अपने ज्ञानादि गुणों का ही कर्ता होता है। चौथे स्थान में जीव को पुण्य-पाप रूप शुभा-शुभ कर्मों के फल का भोक्ता माना गया है, वह भी विभाव की अपेक्षा ही समझना चाहिये। पाँचवें स्थान में कहा गया है कि जीव अनादि-कालीन कर्म के बंध को भी काट सकता है अर्थात् जीव के साथ लगे कर्मों का सर्वथा विच्छेद हो सकता है। छट्ठे स्थान में कर्म बंध से मुक्ति पाने के चार उपाय बताये गये हैं। उनमें ज्ञानपूर्वक क्रिया से कर्मों को क्षय कर मुक्ति प्राप्त कर सकता है।

इस प्रकार इन ६ स्थानों से प्रत्येक मुमुक्षु के मन में यह विश्वास उत्पन्न किया गया है कि अनादिकालीन कर्म बन्ध भी काटा जा सकता है व उसका उपाय भी है। जो दृढ़ संकल्प से पुरुषार्थ करता है वह सर्वथा कर्मबन्ध से मुक्त होकर सिद्ध, बुद्ध, शाश्वत पद का अधिकारी हो जाता है।



अजीव तत्त्व

शिष्य—भगवन् ! लोक का परिचय देते हुए आपने कहा कि जीव और अजीव—ये लोक हैं उनमें से जीव तत्त्व का स्वरूप और उसके भेद-प्रभेद की जानकारी प्राप्त की। अब यह बतलाने की कृपा करें कि अजीव क्या है और कितने प्रकार का है ?

गुरुदेव ने उत्तर देते हुए कहा—जीव से भिन्न जो भी द्रव्य हैं वे सब अजीव हैं। अजीव के मुख्य ५ प्रकार हैं—१. धर्मास्तिकाय, २. अधर्मास्तिकाय, ३. आकाशास्तिकाय, ४. काल, व ५. पुद्गलास्तिकाय

शिष्य ने जिज्ञासा की कि—भगवन् ! धर्मास्तिकाय आदि क्या हैं और इनकी पहिचान कैसे है ?

गुरुदेव—लोक में जीव और पुद्गल द्रव्य के गति, स्थिति अवगाहन आदि की व्यवस्था मे सहायक बनने वाले द्रव्य या शक्ति धर्मास्तिकाय कही जाती है। जिस प्रकार मछली या पक्षियो को गति करने मे जल और आकाश जैसे सहकर्मी द्रव्य आवश्यक हैं वैसे ही जीव आदि को एक स्थान से दूसरे स्थान पर आवागमन करने में सहायक होना धर्मास्तिकाय की पहचान है। वैज्ञानिक जगत् में इसको ईथर कहा है। अधर्मास्तिकाय जीव और पुद्गल के स्थिर रहने में वैसे ही सहायक होते है जैसे पक्षी को वृक्ष, थके पथिक को छाया ठहरने मे सहायक होती है, वैसे ही जीव और पुद्गल को भी ठहरने में जो सहायक हो उसे अधर्मास्तिकाय कहते हैं।

ससार के जीव आदि द्रव्य आधेय है उन्हे ठहरने के लिए आधार की आवश्यकता है, क्योकि बिना आधार के आधेय नही रह सकता। जीव और पुद्गल लोक मे भरे हुए है, इससे प्रमाणित होता है कि उनका कोई आधार भी है और वह है *आकाश द्रव्य। उसका* गुण अवकाश देना है। पदार्थो मे पर्यायो का परिवर्तन काल की पहचान है, काल का वर्तना गुण है।

शिष्य ने जिज्ञासा भाव से पूछा—क्या ये चार अजीव द्रव्य देखे जा सकते हैं?

गुरुदेव ने कहा—ये वर्ण, गध, रस और स्पर्श रहित हैं। इनके कोई रंग, रूप और आकार नही होता इसलिए इनको अरूपी कहा गया है। अरूपी होने से ये चर्म चक्षु से नही देखे जा सकते।

शिष्य—भगवन्! पाचवां अजीव द्रव्य पुद्गलास्तिकाय का स्वरूप और उसकी पहचान क्या है?

गुरुदेव ने कहा—जो मिलता और बिछुडता हो, जिसमे वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श और सठाण हो, उसे पुद्गल कहते है। जीव के शरीर, इन्द्रिय, श्वास और भाषा आदि के निर्माण में पुद्गल द्रव्य ही सहकारी होता है।

पुद्गलास्तिकाय के सहकार से ही जीव की गति-स्थिति आदि क्रियाएँ होती है। रग, रूप और आकार वाला होने से यह कथचित रूपी और दृश्य भी होता है।

शिष्य—भगवन्! पुद्गल की कुछ पर्यायों का परिचय दीजिये।

गुरुदेव ने कहा—पुद्गल की अगणित पर्यायें होती है। इसकी पर्याय का परिचय देते हुए उत्तराध्ययन सूत्र में कहा है—

एगत्तं च पुहत्तं च, संखा संठाणमेव य।
संजोगा य विभागा य, पज्जवाणं तु लक्खणं ॥

(उ. अ. २८ गा. १३)

अर्थात् एक होना, अलग होगा, संख्या में गिना जाना, संठाण (आकार) होना, संयोग (मिलना) और वियोग (अलग होना) ये पुद्गल पर्याय के लक्षण है।

परमाणु से लेकर अनन्त प्रदेशी स्कन्ध तक अनन्त-अनन्त प्रकार की पर्यायें होती है। शास्त्र में अन्यत्र कहा है कि शब्द, अन्धकार, उद्योत, प्रभा, छाया और आतप ये सब पुद्गल के रूप हैं। इनके मुख्य चार रूप किए जा सकते हैं—१. देखे जाते है, लेकिन पकड़े नही जाते, २. पकड़े जाते हैं, लेकिन देखे नही जाते ३. देखे भी जाते हैं, पकड़े भी जाते हैं, ४. देखे भी नहीं जाते, पकड़े भी नही जाते।

भगवती सूत्र के शतक ८ उद्देश १ में पुद्गल की पर्याय का वर्णन आता है कि "तिविहा पोग्गला पन्नत्ता तजहापओगपरिणया, मीससा परिणया वीससापरिणया"

(१) एकेन्द्रिय आदि जीवों के प्रयोग व्यापार क्रिया से शरीरादि से परिणत होने वाले प्रयोग परिणत (२) सहज स्वभाव से बादल की तरह अपने आप इकट्ठे होने वाले विस्रसा परिणत और (३) जीव की क्रिया के प्रयोग से शरीरादि रूप परिणत और विस्रसा (स्वभाव) से परिणत मिश्र परिणत पुद्गल कहे जाते हैं जैसे मृत कलेवर।

परमाणु पुद्गल से लेकर सख्यात प्रदेशी, असख्यात प्रदेशी, अनन्त प्रदेशी, सूक्ष्म स्कन्ध और वादर स्कन्ध ये पुद्गल की विविध पर्यायो के रूप हैं। परमाणु मात्र एक गन्ध, एक वर्ण, एक रस और दो स्पर्श वाला होता है। सूक्ष्म प्रदेशी स्कन्ध चउस्पर्शी होते हैं और वादर अष्ट स्पर्शी होते हैं। इनका विस्तृत परिचय भगवती सूत्र के शतक ८ उद्देशक १ मे देखा जा सकता है। उत्तराध्ययन, पन्नवणा और भगवती सूत्र में पुद्गल के पर्यायो का विस्तृत विवरण किया गया है। प्रकारान्तर से पुद्गल के ६ प्रकार वतलाए गए है—

(१) वादर-वादर—जो विभाजित होकर पुन एक ही रूप में नहीं मिलते। सभी इन्द्रिय द्वारा ज्ञेय, छेद-भेद, अग-प्रत्यग की गति से हीन। जैसे पर्वत-पत्थर, पृथ्वी, भोगोपभोग के पदार्थ।

(२) वादर—जो द्रवण शील है (तरल है) भिन्न-भिन्न होकर भी पुन एक रूप में मिल जाने वाले, इन्द्रिय गम्य। जैसे घी, तेल, दूध, जल, गति वाले पदार्थ।

(३) वादर सूक्ष्म—आख द्वारा दृष्टि गम्य हो पर पकड में नही आवें, यत्नादि से ग्राह्य। जैसे धूप, छांव, प्रकाश आदि के पुद्गल।

(४) सूक्ष्म वादर—कुछेक इन्द्रिया द्वारा जाने जाते हैं पर दृष्टि गम्य नही होते तथा जो शक्ति द्वारा छेद्य-भेद्य हैं। जैसे भापा, गन्ध वायु के पुद्गल।

(५) सूक्ष्म—अनन्त सूक्ष्म परमाणु से बने हुए अपेक्षाकृत स्थूल, शक्ति विशेष से छेद-भेद पर इन्द्रियों से अगोचर । जैसे चौस्पर्शी कार्मण वर्गणा ।

(६) सूक्ष्म-सूक्ष्म—अछेद्य-अभेद्य, विशिष्ट अवधि या केवल ज्ञान से ज्ञातव्य, यंत्र शक्ति से भी अछेद्य-अभेद्य । जैसे द्विस्पर्शी परमाणु ।

पुद्गलास्तिकाय के चार भेद किये गये हैं—स्कन्ध, देश, प्रदेश और परमाणु । परमाणु के समूह को स्कन्ध कहते हैं, स्कन्ध के एक भाग को देश कहते हैं, स्कन्ध के सबसे छोटे अंश को प्रदेश और स्कन्ध से अलग हुये प्रदेश यानी अविभागीय अंश को परमाणु कहते है ।

शिष्य ने गुरुदेव से जिज्ञासा की कि—भगवन् ! अजीव के पांच भेद बतलाए, किन्तु जीव तत्त्व की तरह इनके अलग-अलग भेद भी बतलाए गए हैं और यदि बतलाए गए हैं तो फिर कितने हैं ? समझाने की कृपा करें ।

गुरुदेव ने कहा—"उत्तराध्ययन सूत्र में धर्मास्तिकाय आदि ५ भेदों को बतलाकर ३० अरूपी और ५३० रूपी कुल ५६० भेद अजीव तत्त्व के भेद किये हैं ।

धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और आकाशास्तिकाय के स्कन्ध, देश, प्रदेश के प्रकार से ९ भेद और काल ये १० भेद होते हैं । फिर धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय और काल के द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और गुण इस प्रकार ५-५ भेद कर २० भेद किये । ये कुल ३० भेद अरूपी अजीव के हैं ।

धर्मास्तिकाय आदि की तरह पुद्गल के ५ वर्ण, २ गंध, ५ रस, ८ स्पर्श और ५ संठाण के साथ भंग करने से ५३० भेद होते हैं ।

पुद्गल की विशेष जानकारी के लिये उत्तराध्ययन सूत्र का ३६वा अध्ययन देखना चाहिये।

पांच अजीव द्रव्यो मे धर्मास्तिकाय आदि ४ द्रव्यो का कार्य सर्व साधारण द्वारा लक्षित होने योग्य नही है। केवल एक पुद्गलास्तिकाय ही जन साधारण को दृष्टिगोचर होता है। दृष्टि जगत् का सारा दृश्य—हाट, हवेली यान, वाहन, राकेट और अणु बम पुद्गल द्रव्य का ही कार्य है। जीव के सहयोग से पुद्गल द्रव्य विविध प्रकार के चमत्कारपूर्ण प्रयोग करने मे सफल होता है जो हम सबके प्रत्यक्ष है।

शिष्य—भगवन्! रूपी जीव के ५३० भेद कहे हैं, वे कौन से हैं?

गुरुदेव—रूपी जीव के ५३० भेद संस्थान, वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श के आधार से कहे गये है। वे इस प्रकार है—संस्थान ५ है—(१) परिमंडल, (२) वृत्त, (३) तस, (४) चतुरस, (५) आयत। इनमें से प्रत्येक के ५ वर्ण, २ गन्ध, ५ रस और ८ स्पर्श इनके अनुसार २० भेद होते है। अत इनके ५×२०=१०० भेद हुए।

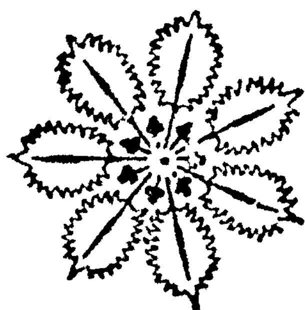
वर्ण ५ हैं—(१) काला, (२) नीला, (३) लाल, (४) पीला, (५) सफेद। इनमे से प्रत्येक के २ गन्ध, ५ रस, ५ संस्थान और ८ स्पर्श के अनुसार २० भेद हैं अत इनके ५×२०=१०० भेद हुये।

गन्ध २ हैं—(१) सुरभि गन्ध और (२) दुरभि गन्ध। इनमें से प्रत्येक के ५ संस्थान, ५ वर्ण, ५ रस और ८ स्पर्श के अनुसार २३ भेद हैं। अत इनके २×२३=४६ भेद हुए।

रस ५ हैं—(१) तिक्त, (२) कटु, (३) कसैला, (४) खट्टा और (५) मीठा। इनमें से प्रत्येक के ५ संस्थान, ५ वर्ण, २ गन्ध और ८ स्पर्श के अनुसार कुल २० भेद हैं अतः इनके ५×२०=१०० भेद हुये।

स्पर्शन ८ हैं—(१) गुरु, (२) लघु, (३) मृदु, (४) कठोर, (५) शीत, (६) उष्ण, (७) स्निग्ध और (८) रूक्ष। इनमें से प्रत्येक के ५ संस्थान, ५ वर्ण, २ गन्ध, ५ रस, ६ स्पर्श (८ स्पर्श में से एक स्वयं को और एक विरोधी इन दो स्पर्श को छोड़कर) २३ भेद है अतः इनके ८×२३=१८४ भेद हुये।

इस प्रकार संस्थान के १००, वर्ण के १००, गन्ध के ४६, रस के १०० और स्पर्श के १८४ भेद मिलकर ५३० भेद रूपी अजीव के हुये।



पुण्य तत्त्व

शिष्य—भगवन् ! आपने लोक के जीव और अजीव इन दो तत्त्वों का परिचय कराया, इनके अतिरिक्त पुण्य-पाप आदि कहे जाते हैं, वे क्या हैं ? कृपया क्रमश पुण्य के विषय मे फरमावें ।

गुरुदेव ने उत्तर देते हुए फरमाया कि मिट्टी और पानी की तरह मूल तत्त्व जीव और अजीव ये दो हैं किन्तु जैसे मिट्टी और पानी के सयोग से घडे, गमले और विविध खिलाने आदि बनते ह, वैसे ही जीव और पुद्गल के सयोग से अनेको पर्यायें उत्पन्न होती ह। जब जीव की शुभ प्रवृत्ति मे शुभ पुद्गला का सयोग होता है तब उसे पुण्य कहते ह । जैसा कि तत्त्वार्थ सूत्र मे कहा है—"शुभ पुण्यस्य" जो जीव को शुभ फल देने के कारण होता है उसे पुण्य कहते ह । पुण्यादि अन्य तत्त्व जीव और अजीव इन दो मूल तत्त्वो के सयाग और वियोग के परिणाम हैं। जीव की कम शुद्धि मे प्रेरणा प्रदान करने वाले होने से इन्हे तत्त्व कहा गया है ।

शिष्य—भगवन् ! पुण्य कार्य किन-किन कारणो से होता है ?

उत्तर देते हुये गुरुदेव ने कहा—पुण्य सचय के प्रमुख ९ कारण है १ अन्न पुण्य २ पान पुण्य ३ लयन पुण्य ४ शयन पुण्य ५ वस्त्र पुण्य ६ मन पुण्य ७ वचन पुण्य ८ काय पुण्य ९ नमस्कार पुण्य (ठाणाग सूत्र का ९वा ठाणा) ।

१. क्षुधातुर को आहार दान, २. प्यास से पीड़ित को जलदान ३. स्थान, ४. शय्या, ५. सर्दी गर्मी से पीड़ित को वस्त्रदान, ६. विनय, भक्ति और दुःख निवारण के शुभ विचार, ७. सत्य-मित और हितकारी वचन, ८. शरीर से सेवा सुश्रूषा आदि कार्य और ९. गुणवानों को नमस्कार। इस प्रकार मुख्य रूप से पुण्य संचय के ९ कारण है। मन वचन और काया की शुभ प्रवृत्तियों मे इन सब का समावेश हो जाता है। औषधि दान, पुस्तक आदि धर्मोपकरण का लाभ और ज्ञान दान इन्ही में सम्मिलित होते है। उपदेश दान और देव, गुरु, धर्म का प्रचार विशिष्ट पुण्य प्रकृति का कारण है, उनको भी शुभ मन, शुभ वचन और शुभ कार्य मे समझना चाहिये।

शिष्य—भगवन् ! पुण्य कर्म के फल क्या है ?

गुरुदेव ने कहा—प्रिय शिष्य ! पुण्य कर्म के भोगने के ४२ प्रकार हैं—नाम, गोत्र, आयु और वेदनीय की शुभ प्रकृतियों की प्राप्ति से जीव शरीर आदि शुभ सामग्रियों की प्राप्ति करता है ये ४२ प्रकार की है।

सा उच्च गोय मणु दुग, सुर दुग पंचिदिजाई पणदेहा,
आइतितणू णुवंगा, आइम संघयण संठाणा ॥
वण्ण चउक्का गुरुलहु परधा उस्साय आयवुज्जोय,
सुभखगई निमिण तसदस सुरनर तिरि आयु तित्थयरं ॥
तस बायर पज्जत्तं, पत्तेय थिरं सुभंच सुभंगच,
सुस्सर आइज्ज जसं, तसाइदसगं इमं होइ ॥ (नव तत्त्व)

पुण्य का काम सामग्री प्रस्तुत करना है, सबल और निरोग शरीर आदि सामग्री पाकर आगे भी शुभ करणी कर आत्मा को ऊँचा उठावें या पाप कर्म में शक्ति लगाकर पतन करें, यह कर्ता के अधीन

है। उत्कृष्ट पुण्य प्रकृति पाकर भरत ने उसी भव मे मोक्ष प्राप्त कर लिया तो ब्रह्मदत्त ने सभी अनुकूल सामग्री पाकर भी सप्तम नरक योग्य कर्म सचय किये। पुण्य की सामग्री ने एक को धर्म के सन्मुख किया तो दूसरे को धर्म के विमुख।

पुण्य के ४२ भेदो मे पहले साता वेदनीय धर्म परमार्थ के कार्य को सफल करने मे स्वस्थ शरीर का होना परम आवश्यक है। पचेन्द्रिय जाति विकल इन्द्रिय वाला कार्य करने मे भी असमर्थ होता है। अत पुण्यवान को पचेन्द्रिय जाति का होना परम आवश्यक है। (३ से ७) उच्च गोत्र मनुष्य गति, मनुष्य—आनुपूर्वी देव गति और देव आनुपूर्वी भी शुभ सामग्री के स्थान होने से पाचो पुण्य के फल हैं। (८ से १५) ५ शरीर और ३ अगोपाग इन ८ का होना पुण्य के उदय पर निर्भर करता है। (१६ से २५) त्रस दशक—त्रस नाम, वादर नाम आदि १० प्रकृतियाँ विशिष्ट कार्य के सम्पन्न होने मे आवश्यक है। त्रस की तरह वादर नाम भी पुण्योदय से प्राप्त होता है, क्योंकि त्रस जीव वादर नाम के उदय वाले ही होते है और विशिष्ट कार्य के लिये त्रस जीव ही अधिकारी होते हैं, स्थावर नही। इस प्रकार अन्य प्रकृतियों के सम्बन्ध म भी समझें। (२६ से ३२) ७ प्रत्येक प्रकृति-अगुरु लघु नाम, पराघात नाम आदि ७ प्रत्येक प्रकृतियाँ भी पुण्य उदय से ही प्राप्त होती हैं। (३३ ३४) वज्र ऋषभ नाराच सहनन और समचतुरस सस्थान, शरीर की पूर्ण दृढता और स्थिरता के लिये वज्र ऋषभ नाराच सहनन वाला कठोरतम वेदना और प्रहार भी सरलता से सह सकता है। सहनन की तरह सस्थान भी पुण्य भाग के शुभ लक्षण से उत्पन्न होता है। (३५ से ३७) मनुष्य आयु, देवायु और तिर्यंच का शुभ दीर्घ आयु ये भी शुभ कर्म के उदय से ही प्राप्त होते हैं। (३८ से ४१) शरीर के शुभ वर्ण, गध, रस और स्पर्श ये चार भी पुण्य प्रकृति के फल हैं। तीर्थंकर, चक्रवर्ती आदि के शरीर मे ऐसे ही उत्तम वर्णादि होते है,

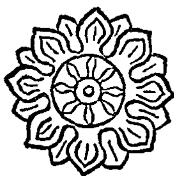
जो जीव को सहसा मोहित कर लेते है। ४२ शुभ विहायोगति श्वान या सियाल की तरह अशुभ चाल की अपेक्षा पुण्यशाली जीव की चाल भी शुभ होती है, जिसे गज गति या हंस गति आदि विशेषणों से कहा जाता है।

इस प्रकार पुण्य की ये ४२ प्रकृतियाँ है।

शिष्य—भगवन् ! पाप की तरह पुण्य भी कर्म है और मोक्ष प्राप्ति के लिए पुण्य-पाप दोनों कर्मों का क्षय करना होता है, फिर पुण्य कर्म करने का उपदेश क्यों दिया गया ?

गुरुदेव ने कहा—मोक्ष प्राप्ति के लिये शुभाशुभ कर्म क्षय करने पडते है, फिर भी पुण्य और पाप में अन्तर है। समुद्र पार करने वाले को गाड़ी और नौका दोनों का परित्याग करना होता है पर जब तक समुद्र के किनारे नही पहुँचता तब तक नौका को उपादेय मानकर सहारा लेना पड़ता है। यदि समुद्र के मध्य में नौका छोड़ दी जाय तो पार होने की आशा धूमिल होने के साथ-साथ प्राणों से भी हाथ धोने पड़ते हे। यात्रा मे वाहन की तरह भवसागर पार करने के लिये भी पुण्य के वाहन की आवश्यकता होती है। इसलिये पुण्य को पाप कर्म की तरह एकान्त हेय नही कहा जा सकता। गृहस्थी लोग भी साधना के प्रारम्भ मे शुभ का मार्ग अपनाते हैं। होली आदि सामूहिक उत्सवों में एक ओर धूल उछाला जाता हो, काले पानी से कपड़े गन्दे किये जाते हो और दूसरी ओर केसर की छाप मारी जाती हो और गुलाल डाला जाता हो तो काले छाप और धूल से हर कोई खिन्न होगा व बचना चाहेगा लेकिन केसर और गुलाल से प्रसन्न रहेगा। दोनों रंग होते हुये भी एक अशुभ और दूसरा शुभ माना जाता है। केसर इच्छा से लगवाते हैं, लेकिन कीचड़ का लेप अनिच्छा से भी

लग जाये तो साफ करेंगे । इसी प्रकार पुण्य-पाप समझना चाहिये । पुण्य गुलाल और केसर की तरह आदरणीय हैं तो पाप धूल और कीचड की तरह सदा परित्याज्य है । अत पुण्य को एकान्त हेय रूप मानने की बात भूलकर भी नही करनी चाहिये । तीर्थंकर जैसा स्व-पर कल्याणकारी पद की प्राप्ति पुण्य के ही फल से होती है ।



पाप तत्त्व

शिष्य—भगवन् ! पुण्य बंध के कारण और उसके फल का संक्षेप में वर्णन ज्ञात हुआ। पुण्य की तरह पाप भी तत्त्व माना गया है। पाप क्या है ? उसका बंध किस कारण से होता है और पाप का फल कितनी तरह से भोगा जाता है ? समझाने की कृपा करें।

गुरुदेव ने समझाते हुये कहा—अशुभ योग से होने वाले कर्म के बंध को पाप कहते है। पाप कर्म के संचय करने के १८ प्रकार हैं।

शिष्य—भगवन् ! पाप बंध के १८ प्रकार कौन-कौन से हैं ?

गुरुदेव ने कहा—पाप के १८ कारण ये है। १. प्राणातिपात (हिंसा), २. मृषावाद (झूठ), ३. अदत्तादान (चोरी), ४. मैथुन (कुशील सेवन), ५. परिग्रह (धन-धान्यादि का संग्रह), ६. क्रोध, ७. मान, ८. माया, ९. लोभ, १०. राग, ११. द्वेष (अनिष्ट पदार्थों पर), १२. कलह (लड़ाई), १३. अभ्याख्यान (किसी पर झूठा आरोप लगाना), १४. पैशुन्य (चुगली करना), १५. पर परिवाद (निन्दा करना), १६. रति-अरति (पाप कार्यों पर रति और संयम साधना से अरति), १७. माया मृषावाद (कपट सहित झूठ बोलना), १८. मिथ्या दर्शन शल्य (मिथ्या दर्शन)।

इन १८ प्रकार की प्रवृत्तियों से पाप कर्मों का बंध होता है। पाप कर्म जीव खुशी-खुशी करता है, परन्तु जब फल भोगने का समय

आता है, तब बचाव करता है और कष्ट का अनुभव करता है। दु ख ही दु ख भोगता है।

शिष्य—गुरुदेव! आपने पाप कर्म कैसे बधता है बताने की कृपा की, पाप कर्म का फल क्या है वह कैसे भोगा जाता है? यह बताने की कृपा करें।

गुरुदेव—पाप कर्म का फल दु खद रूप मे प्रकट होता है और वह ८२ प्रकार का है। यथा —

नाणतराय दसग नव बीए नीय साय मिच्छत्त।
थावर दस नरय तिग कसाय पणवीस तिरिय दुग ॥१८॥
थावर सुहुम अपज्ज साहारणमथिरमसुभ दुभगाणि।
दुस्सरणाइज्जजस थावर दसग विवज्जत्थ ॥१९॥
इग-वि-ति चउजाइओ, कुखगई उवघाय हुति पावस्स।
अपसत्थ वण्णचऊ अपढम सघयण सठाणा ॥२०॥ नव तत्त्व

अर्थात्—(१) मतिज्ञानावरणीय, (२) श्रुतज्ञानावरणीय, (३) अवधिज्ञानावरणीय, (४) मन पर्याय ज्ञानावरणीय, (५) केवल ज्ञानावरणीय, (६) दानान्तराय, (७) लाभान्तराय, (८) भोगान्तराय, (९) उपभोगान्तराय, (१०) वीर्यान्तराय, (११) निद्रा, (१२) निद्रा-निद्रा, (१३) प्रचला, (१४) प्रचला-प्रचला, (१५) स्त्यानर्द्धि, (१६) चक्षुदर्शनावरणीय, (१७) अचक्षुदर्शनावरणीय, (१८) अवधि दर्शनावरणीय, (१९) केवल दर्शनावरणीय, (२०) असाता वेदनीय, (२१) नीच गोत्र, (२२) मिथ्यात्व मोहनीय, (२३) स्थावर नाम, (२४) सूक्ष्म नाम, (२५) अपर्याप्त नाम, (२६) साधारण नाम, (२७) अस्थिर नाम, (२८) अशुभ नाम, (२९) दुभग नाम, (३०) दु स्वर नाम, (३१) अनादेयनाम, (३२) अयश कीर्त्तिनाम, (३३)

नरक गति, (३४) नरकानुपूर्व्वी, (३५) नरकायु, (३६) अनंतानुबंधी क्रोध, (३७) अनतानुबंधी मान, (३८) अनंतानुबंधी माया, (३९) अनंतानुबंधी लोभ, (४०) अप्रत्याख्यानी क्रोध, (४१) अप्रत्याख्यानी मान, (४२) अप्रत्याख्यानी माया, (४३) अप्रत्याख्यानी लोभ, (४४) प्रत्याख्यानावरण क्रोध, (४५) प्रत्याख्यानावरण मान, (४६) प्रत्याख्यानावरण माया, (४७) प्रत्याख्यानावरण लोभ, (४८) संज्वलन लोभ, (४९) संज्वलन मान, (५०) संज्वलन माया, (५१) संज्वलन लोभ, (५२) हास्य, (५३) रति, (५४) अरति, (५५) भय, (५६) शोक, (५७) दुगुंछा, (५८) स्त्रीवेद, (५९) पुरुपवेद, (६०) नपुंसकवेद, (६१) तिर्यंचगति, (६२) तिर्यंचानुपूर्व्वी, (६३) एकेन्द्रिय जाति, (६४) द्वीन्द्रीय जाति, (६५) त्रीन्द्रिय जाति, (६६) चौइन्द्रिय जाति, (६७) अशुभ विहायो गति, (६८) उपघात नामकर्म, (६९) अशुभ वर्ण, (७०) अशुभ गंध, (७१) अशुभ रस, (७२) अशुभ स्पर्श, (७३) ऋपभ नाराच संहनन, (७४) नाराच संहनन, (७५) अर्द्ध-नाराच संहनन, (७६) कीलिका संहनन, (७७) सेवार्त्त संहनन, (७८) न्यग्रोध परिमंडल संस्थान, (७९) सादि संस्थान, (८०) वामन सस्थान. (८१) कुब्जक संस्थान, (८२) हुंडक संस्थान । ये ८२ प्रकृतियां पाप कर्म के परिणाम के रूप में मिलती हैं ।

शिष्य—भगवन् ! आचार्यों ने देव, गुरु धर्म के राग को शुभ उपादेय बतलाया है, कैसे ?

गुरुदेव—देव गुरु और धर्म बन्धुओं के राग को शुभ मानकर उपादेय बतलाना व्यवहार की अपेक्षा है । व्यवहार में प्रेम से मनुष्य देव, गुरु, धर्म की भक्ति में अधिक रस लेता है और त्याग, तप ध्यानादि भी प्रेम से ही आसानी से किये जाते हैं । प्रेमवश अधिक से अधिक त्याग, तप को मनुष्य कष्ट न मानते हुये कर जाते हैं । इसलिये इसे शुभ राग

बतलाया है। दरिया के किनारे पहुँचने पर जैसे यात्री को नाव छोडनी होती है, वैसे ही भवसागर के किनारे पहुँचने पर यह राग भी छोडना होता है। अत सिद्धान्त रूप से यह भी छोडने योग्य है। पर साधना काल मे नही छोडा जाता।

शिष्य—भगवन्! एक व्यक्ति पुण्योदय से अनेक सामग्री पाकर भोग विलास और दुष्कर्मों मे अपनी शक्ति और सम्पदा लगाता है और दूसरा व्यक्ति पुण्य की सामग्री पाकर भी भोगविलास मे रस न लेकर देव, गुरु, धर्म की भक्ति मे सम्पदा का विनिमय कर अपने आपको कृत-कृत्य समझता है। खुद कष्ट सहकर भी दूसरो के दुख निवारण मे आनन्द मानता है इसका क्या कारण है? पुण्य के उदय से दोनो मे समानता होनी चाहिये थी, फिर इस प्रकार का अन्तर क्यो?

गुरुदेव ने कहा—शिष्य! तुम्हारी शका ठीक है, पुण्य दो प्रकार के माने गये है। एक पुण्यानुबन्धी पुण्य और दूसरा पापानुबन्धी पुण्य। पुण्यानुबन्धी पुण्य जीवन म सत्कर्म की साधना कराता है। इसके विपरीत पापानुबन्धी-पुण्य असत् कम के आचरण म प्रीति उत्पन्न करता है। अत भोग मे अन्तर देखा जाता है।

शिष्य—भगवन्! पुण्यानुबन्धी पुण्य और पापानुबन्धी पुण्य का क्या अर्थ है?

गुरुदेव—प्रिय शिष्य! जिस पुण्य के उदय मे व्यक्ति भविष्य के लिये शुभ कर्म की साधना करने मे हर्ष का अनुभव करता है दीन-दुखियो की सेवा, व्रत, नियम और सत्सग मे अपनी शक्ति और सम्पदा के विनिमय मे उसे प्रसन्नता होती है। भरत आदि की तरह पुण्योदय मे भविष्य भी उन्नत बनाता है, उसे पुण्यानुबन्धी पुण्य कहते हैं।

इसके विपरीत पापानुबन्धी पुण्य के उदय मे मानव तन-धन-

परिजन के सुख पाकर भी सदा पाप कर्म में ही रुचि मानता है और उससे प्रसन्न रहता है जैसा कि कहा है—

परिपूरण पाप के कारण ते भगवन्त कथा न रुचे जिनको,
तिन एक कुनार बुलाय लही नचवावत है रिनको।
मरदंग कहे धिक है धिक है, मंजीर कहे किनको-किनको,
तब हाथ उठाय के नारी कहे, इनको, इनको, इनको ।।

इस प्रकार पापानुबंधी पुण्य वाला इन्द्रिय सुख में ही सदा आसक्त रहकर संचित पुण्य के खजाने को लुटा देता है, और आगे के लिये पाप की गांठ को सिर पर लिए अधोगति का महमान बनता है, इसी को पापानुबन्धी पुण्य कहते हैं।

शिष्य—भगवन् ! एकान्त पाप कर्म कितने है ?

गुरुदेव ने कहा—प्रिय अन्तेवासी ! आठ कर्म में ४ एकान्त पाप कर्म कहे गये हैं—ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय। शेष चार कर्म—वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र पाप रूप और पुण्य रूप दोनों प्रकार के होते है। पाप प्रकृतियाँ प्राणी के लिये एकान्त अहितकर है अतः इन्हें एकान्त त्याज्य कहा है ?

शिष्य—भगवन् ! पाप के बन्ध के कारण १८ बताये गये हैं क्या उनके अतिरिक्त भी कोई कारण हैं ?

गुरुदेव ने कहा—ज्ञानावरण आदि अशुभ कर्मों के बन्ध के कारण अलग भी बतलाये गये हैं। ज्ञानावरणीय कर्म के बन्ध के छः कारण बतलाये हैं :—१. ज्ञान व ज्ञानी की निन्दा करने से २. ज्ञान व ज्ञानी का अपलाप करने से, ३. ज्ञान प्राप्त करने वाले के अन्तराय डालने से, ४. ज्ञान व ज्ञानी से द्वेष करने से, ५. ज्ञान व ज्ञानी की आशातना करने से, ६. ज्ञान व ज्ञानी से विसंवाद करने से।

इमी प्रकार दर्शनावरणीय बन्ध के भी छः कारण होते हैं।

१ (देव-गुरु के) दर्शन व दर्शनी का विरोध करने से, २ दर्शन व दर्शनी का अपलाप करने से, ३ दर्शन प्राप्त करने वाले के अन्तराय डालने से, ४ दर्शन व दर्शनी मे द्वेष करने से, ५ दर्शन व दर्शनी की आशातना करने से, ६ दर्शन व दर्शनी से विसवाद करने से।

ऐसे ही मोहनीय कर्म के बन्ध के छः कारण होते है —१ तीव्र क्रोध, २ तीव्र मान, ३ तीव्र माया, ४ तीव्र लोभ, ५ तीव्र दर्शन मोहनीय, ६ तीव्र चारित्र मोहनीय करने से क्रोधादि मोहनीय का बध होता है, जो आत्मा के लिये कठोर फल देने वाला होता है।

शिष्य—भगवन्! अन्तराय कर्म का बन्ध कितने कारणो से होता है?

गुरुदेव—प्रिय शिष्य! दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य मे अन्तराय कर्म का बन्ध होता है। यहाँ पर अन्य कर्म की तरह ज्ञान, दर्शन, चारित्र व्रत के दान-लाभ मे बाधा डालना भी अन्तराय कर्म के बन्ध का कारण समझना चाहिये।

शिष्य—भगवन्! वीर्यान्तराय कर्म का बन्ध किससे होता है?

गुरुदेव ने कहा—प्रिय शिष्य! ज्ञान आदि की आराधना करने से किसी को इनकार करना, सत्सग सेवा और साधना मे पुरुषार्थ करने वाले को अनुत्साहित कर उन्हे सद्प्रवृत्तियो की आराधना से उन्मुख करना अन्तराय कर्म का बन्ध का कारण है। कोई भी व्यक्ति शुभ कर्म मे अपनी शक्ति लगा रहा हो, उसको उन सद्प्रवृत्तियो की निरुपयोगिता बताकर अलग करना वीर्यान्तराय कर्म बन्ध का कारण होता है।

दशाश्रुत स्कन्ध और समवायांग सूत्र में महामोह के ३० कारण बतलाये गये है, उनमें तपस्वी नहीं होते हुए अपने को तपस्वी कहलाना, ब्रह्मचारी न होते हुये ब्रह्मचारी कहलाना, इस प्रकार अनेक स्थान महामोह के बन्ध के माने गये है।

शिष्य—भगवन्! प्राणी नहीं चाहते हुये भी विविध प्रकार के शारीरिक भोग और आक्रान्तों से पीड़ित क्यों होता है?

गुरुदेव ने कहा—आयुष्मान् शिष्य! शास्त्र में असाता वेदनीय के १२ बन्ध स्थान बताये गये है जैसे प्राण, भूत, जीव, सत्व को दुःख देने, शोक कराने, अश्रुपात कराने, विलाप कराने, पीटने और परि-तापना देने, बहुत दुःख देने, पीटने, शोक कराने, अश्रुपात कराने, विलाप कराने और परितापना देने से असाता वेदनीय कर्म का बन्ध होता है। अनुभवियों ने उक्ति में भी कहा है कि—

दुःख दिया दुःख होत है, सुख दिया सुख होय,
जो तू हणे न और कूँ, तोकू हणे न कोय।

इसलिये सुख के अभिलाषी प्राणी को कभी किसी प्राणी को अहित भाव से कष्ट नही देना चाहिये।

शिष्य—भगवन्! असाता वेदनीय के बन्ध स्थानों की तरह अशुभ आयु, नाम और गोत्र के भी अलग-अलग बन्ध स्थान होंगे? उन्हें समझाने की कृपा करें।

गुरुदेव ने कहा—शिष्य! ४ प्रकार के आयुष्य में नरक और तिर्यंच आयु को अशुभ कहा है, उनके बन्ध स्थान ४-४ माने गये हैं जैसे—१. महा आरम्भ, २. महा परिग्रह, ३. पंचेन्द्रिय जीव की हत्या, ४. मद्य, मांस आदि का आहार करने से नरकायु का बन्ध होता है। १. कपट करने, २. नाम उपाधि आदि बदलकर गूढ़ कपट करने,

३ झूठ बोलने, ४ झूठा लेख अथवा खोटा तोल माप करने से तिर्यंच आयु का बंध होता है।

अशुभ नाम कर्म का बन्ध—१ उठने बैठने एवं चलने की क्रिया में काया की वक्रता, २ भाव और ३ भाषा की वक्रता, ४ विसंवाद आदि अशुभ योग से होता है। १ जाति, २ कुल, ३ बल, ४ रूप, ५ श्रुत, ६ तप, ७ लाभ और ८ ऐश्वर्य का मान (मद) करने से नीच गोत्र का बन्ध होता है, अतः जाति आदि के अभिमान से सदा डरते रहना ही कल्याण के लिये श्रेयस्कर है।

शिष्य—भगवन्! पाप कर्म के बंध स्थान १८ बतलाये गये हैं, फिर जो ये अलग अलग स्थान बताये जाते हैं, उनसे १८ पाप स्थानों की बात में क्या बाधा नहीं आवेगी?

गुरुदेव ने कहा—१८ पाप स्थानों का कथन सामान्य दृष्टि से किया गया है, अतः ज्ञानावरणीय आदि के और महामोहनीय के ३० बोलों से इनमें बाधा नहीं आती। मुख्य रूप से इन १८ स्थानों में अन्य का समावेश हो जाता है जैसे असाता के १२ कारण प्राणातिपात, प्रथम पाप स्थान में आ जाते हैं, ऐसे ही अन्य स्थान के भेद भी आ जाते हैं। ज्ञानावरणीय आदि के बन्ध स्थान स्पष्ट रूप से समझाने के लिये अलग गिनाये गये हैं।

शिष्य—गुरुदेव! आपने पुण्य बंध के ९ और पाप बंध के १८ स्थान बतलाये फिर ८ कर्मों के अलग-अलग बन्ध स्थान क्यों कैसे कहे जाते हैं?

उत्तर में गुरुदेव ने कहा—पुण्य के ९ और पाप बन्ध के १८ स्थान सामान्य दृष्टि से हैं। विशेष रूप से पुण्य और पाप के फल जैसे

अनेक प्रकार के होते है, वैसे ही दोनों के बन्ध स्थान भी अनेक प्रकार के कहे गये हैं ।

शिष्य ने पूछा—गुरुदेव ! आपने पहले पुण्य के फल भोगने के ४२ प्रकार बतलाये हैं क्या उनमें भी कोई भिन्नता या विशेषता है ?

उत्तर—पुण्य ४२ प्रकार से भोगा जाता है उनमें अनेक कारणों में भिन्नता आ जाती है, यथा—

(१) बहुत से जीवों को पंचेन्द्रिय जाति और मनुष्य गति प्राप्त होकर भी पाप प्रकृतियों की बहुलता से विविध प्रकार की यातनाएँ भोगते देखा जाता है, शारीरिक कष्ट के साथ उनकी बुद्धि भी कुमार्ग के आचरण की ओर ही जाती है फिर भी पंचेन्द्रिय जाति और मनुष्य गति पाने की अपेक्षा से उसे पुण्योदय कहा जाता है ।

(२) दूसरे प्रकार के वे प्राणी हैं जिन्हें पंचेन्द्रिय जाति और मनुष्य गति के अतिरिक्त तन, धन और परिवार की दृष्टि से भी सुख प्राप्त है । राज्य और समाज में भी उनका सम्मान है पर अज्ञान और मोह की प्रबलता से सदा सत्संग-सेवा की ओर अरुचि रखते और कुमार्ग की ओर शक्ति लगाते हुये अपने साधनों का दुरुपयोगक रने में ही प्रमोदानुभव करते रहते हैं जैसे ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती आदि । ऐसे जीवों को पुण्य की बाह्य सामग्री तो प्राप्त होती है पर अज्ञान और मोह की प्रबलता से अन्तर में पाप का उदय है तथापि बाह्य दृष्टि से उन्हें पुण्यशाली कहा जाता है ।

(३) तीसरे प्रकार के वे प्राणी हैं जिन्हें पंचेन्द्रिय जाति, मनुष्य गति मिलने पर भी उसका कोई सुफल प्राप्त नहीं है, न तन का सुख है, न परिवार का फिर मान सम्मान की तो बात ही क्या ? ऐसी स्थिति में भी मन सत्कर्म की साधना की ओर लालायित रहता

है, जो यह समझते ह कि पहले जन्म मे भावपूर्वक पुण्य कर्म का साधन नही किया इसलिये आज भी निम्न स्थिति को भोग रहा हूँ तो अब मनुष्य जन्म को सफल करने के लिये तन-मन से सत्सग, सेवा और शुभ कम की साधना मे क्यो न अपने जीवन को समर्पित करदू, दु ख मे रोते-रोते मरने की अपेक्षा सत्कर्म की साधना कर हँसते-हँसते जीवन का अन्त करना अधिक अच्छा होगा। इस प्रकार के प्राणी बाह्य दृष्टि से पुण्यहीन कहे जाते हैं पर अन्तर मे उनके घाति कर्म की मदता से पुण्य का उदय देखा जाता है जैसे हरिकेशी बल मुनि।

(४) चौथे प्रकार के वे प्राणी ह जिनको मनुष्य जन्म के साथ शरीर के बल, वीय और सुरूपता भी प्राप्त है, समाज मे मान है, परिवार का सुख है और आर्थिक हालत भी (भौतिक वैभव) अच्छी है, इन बाह्य सुख सामग्रियो के साथ जिसमे मोह की मदता और ज्ञानावरणीय तथा अन्तरायकर्म के क्षमोपशम से सन्मति भी जागृत रहती है। फलस्वरूप सदा अपनी शक्ति और सम्पत्ति का सदुपयोग करते एव सत्कर्म के आचरण करने मे ही जीवन की सफलता मानते हैं, ऐसे प्राणिया को अन्तरग और बहिरग दोनो प्रकार के पुण्य के फल प्राप्त ह। पुण्य के इस चतुर्थ श्रेणी मे सुबाहु और मुनि मेघकुमार आदि श्रावक धर्म और श्रमण धर्म की साधना करने वाला के उदाहरण दिये जा सकते हैं।

इस प्रकार पुण्य उदय के सामान्य-विशेष अनेक प्रकार के फल, पुण्य की विभिन्नता को प्रमाणित करते है।

पुण्य के फलो को सुनकर शिष्य ने पूछा—गुरुदेव! पुण्य फल की चार श्रेणियो से यह स्पष्ट है कि नौ प्रकार के पुण्य बध स्थानों के अतिरिक्त अन्य भी पुण्य के कारण होने चाहिये। पुण्य की चार

श्रेणियों में सम्पत्ति और सत्धर्म में रुचि भी पुण्य का फल बताया गया है, पुण्य किन कारणों से प्राप्त होते हैं कृपया यह भी समझाने का कष्ट करें।

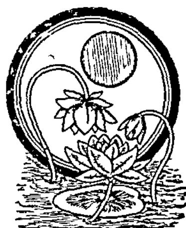
उत्तर में गुरुदेव ने कहा—विशिष्ट प्रकार के पुण्य तीर्थंकर नाम गोत्र बंध के ज्ञाताधर्म कथा श्रु. १ अध्ययन ८ में बीस स्थान बताये गये हैं यथा—१. अरिहन्त, २. सिद्ध, ३. प्रवचन, ४, गुरु, ५. स्थविर, ६, बहुश्रुत, ७. तपस्वी इन सातो का गुणगान करने मे उत्कृष्ट रस आवे, ८. ज्ञान की निरन्तर आराधना करे, ९. निर्मल सम्यक्त्व का पालन करे, १०. गुणी, पूज्यजनो का विनय करे, ११. भावपूर्वक प्रतिक्रमण करे, १२. निरतिचार शीलव्रत पाले, १३. सदा संवेगभाव रखे, १४. सुपात्रदान देवे, १५. वैय्यावृत्य करे, १६. समाधि-भाव रखे, १७. नित्य नवीन ज्ञान का अभ्यास करे, १८. श्रुतज्ञान की भक्ति करे, १९. प्रवचन की प्रभावना करे। इन २० कारणों से तीर्थंकर गोत्र रूप पुण्य का बंध होता है।

इन बीस बोलों में संवर एवं निर्जरा के साथ शुभ योग से होने वाले विशिष्टतम पुण्य के कारण बताये हैं, इसके फल में बाह्य सामग्री के साथ अन्तर मे धर्मलाभ भी प्राप्त होता है। जिन नाम से अन्य विशिष्ट पुण्य हो सकता है। इस प्रकार का पुण्य धर्म साधन में बाधक नहीं होकर अधिक साधक होता है।

शिष्य—भगवन् ! पुण्य के सामान्य—विशेष प्रकार बतलाये, वैसे पाप के भी विविध प्रकार होंगे, उन्हें भी बतलाने की कृपा करें।

उत्तर देते हुए गुरुदेव ने कहा—हाँ, होते हैं। शुभ भाव और योग की मंदता तथा तीव्रता के अनुसार जैसे पुण्य अनेक प्रकार के हैं, वैसे ही हिंसा आदि पाप कार्य, एक इच्छा से करता है, दूसरा परवशता मे राजा के सैनिक की तरह करता है। दोनों के पाप में अन्तर है।

इच्छा से हिंसा करते हुए भी एक रूक्ष (उदासीन) भाव से करता है और दूसरा प्रसन्न मन से, तीसरा हिंसा तो इच्छा से करता है पर करने के पश्चात् फिर उसे पश्चात्ताप होता है। उसका पहले का पाप हल्का हो जाता है। इस प्रकार भावना की तीव्रता, मंदता से हिंसा के पाप में अन्तर होता है। इसी प्रकार अन्य पापों के सम्बन्ध में भी समझा जा सकता है। क्रोध, मान, माया व लोभ की मंदता और तीव्रता के अनुसार पाप के बंध में भी मंदता व तीव्रता आती है। अत पाप कर्म के १८ स्थानों को सामान्य समझना चाहिये। इसके अतिरिक्त विशेष बंध के स्थान भी होते हैं। तपस्या करके भोगों का निदान करना भी पाप के कारण रूप में परिणत होता है।



आश्रव

पुण्य तत्त्व और पाप तत्त्व की तरह पांचवां आश्रव तत्त्व है।

शिष्य—गुरुदेव ! आश्रव किसे कहते हैं ?

गुरुदेव—शिष्य ! जिन कारणो से कर्मो का आगमन हो उसे आश्रव कहते हैं। तालाव में पानी आने के नाले (द्वार) की तरह आत्मा रूपी तालाव में कर्म रूपी पानी के आगमन के मार्ग को आश्रव कहते हैं। दूसरी तरह से कर्म का आना भी आश्रव कहा जाता है।

शिष्य—गुरुदेव ! आश्रव कितने प्रकार का है ?

गुरुदेव—द्रव्याश्रव और भावाश्रव के भेद से आश्रव दो प्रकार का कहा गया है।

शिष्य—कर्मों का आगमन अर्थात् आश्रव कैसे होता है ?

गुरुदेव—कर्माश्रव के पांच, वीस, पच्चीस और वयालीस प्रकार बताये गये है।

शिष्य—आश्रवों के सम्बन्ध में सिद्धान्त ग्रंथों में क्या प्रतिपादन किया गया है ?

गुरुदेव—तत्वार्थ सूत्र मे तन, मन और वाणी के क्रिया रूप योग को आश्रव कहा गया है। जैसे कायवाङ् मनः कर्म योगः।

म आश्रव । तत्त्वार्थ गूत्र अध्ययन ६-१ । प्रकारान्तर से तीन योगा के साथ ३६ भेद जाडकर आश्रव ४२ प्रकार का वतलाया गया है। जैसा कि तत्त्वार्थ सूत्र मे कहा है—

इन्द्रिय कपायाव्रत क्रिया पञ्च चतु पञ्च पञ्च विंशति सख्या पूवस्य भेदा । अ ६ सूत्र ६

अर्थात्—पाच इन्द्रिया, चार कपाय, प्राणातिपात आदि ५ अव्रत, और मिथ्यात्वादि पच्चीस क्रियाएँ कम वघ के कारण होने से इन ३६ भेदो का भी आश्रव कहा गया है।

शिष्य—गुरुदेव ! उपर्युक्त भेदो को जरा स्पष्ट करके समझाइये।

गुरुदव—श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसना और स्पशन इन पाच इन्द्रिया को वश मे नही करना, क्रोध, मान, माया व लोभ रूप चार कपायो का निग्रह नहीं करना और हिंसा, असत्य, चौर्य्य कम, अब्रह्म और परिग्रह से विरमण नही करना तथा कायिकी आदि २५ क्रियाएँ करना तथा मन, वचन और काया को अगुप्त रखना ये ४२ प्रकार के आश्रव वतलाये गये हैं।

शिष्य—गुरुदेव ! पच्चीस क्रियाएँ और उनका स्वरूप क्या है ? समझाने की कृपा करें।

गुरुदेव—कर्म वघ के कारण रूप प्रवृत्ति को क्रिया कहते है। वे पच्चीस प्रकार की हैं जो इस प्रकार हैं—

(१) कायिकी—शरीर से होने वाली उपयोग रहित गमनागमन आदि क्रिया को कायिकी क्रिया कहते है।

(२) अधिकरणिकी—अधिकरण अर्थात हिंसाकारी शस्त्रो से होने

वाली क्रिया को अधिकरणिकी क्रिया कहते हैं। शस्त्रों को बनाने और जोड़ रखने रूप वह दो प्रकार की है।

(३) **प्राद्वेषिकी क्रिया**—जीव या अजीव वस्तु पर द्वेष करने से होने वाली क्रिया प्राद्वेषिकी क्रिया कहलाती है।

(४) **पारितापनिकी क्रिया**—जिससे अपने व दूसरों को पीड़ा उत्पन्न हो उसे पारितापनिकी क्रिया कहते है। जैसे अपने या दूसरे के सिर पर चपेटा या लाठी आदि से प्रहार करना।

(५) **प्राणातिपातिकी क्रिया**—शस्त्र आदि के प्रहार से अपने व दूसरे के प्राणों का अतिपात हो वैसी क्रिया को प्राणातिपातिकी क्रिया कहते हैं।

(६) **आरंभिकी क्रिया**—गृह कार्य में चूल्हा, चक्की आदि से छः काय के जीवों का हनन हो, उस आरम्भ से होने वाली क्रिया को आरंभिकी क्रिया कहते है।

(७) **पारिग्रहीकी क्रिया**—धन, धान्य, सुवर्णादि का संग्रह करने से होने वाली क्रिया को पारिग्रहीकी क्रिया कहते हैं।

(८) **मायाप्रत्ययिकी**—कपट करके दूसरों को ठगने से तथा क्रोध आदि कषाय से होने वाली क्रिया को मायाप्रत्ययिकी कहते हैं।

(९) **अप्रत्याख्यानिकी क्रिया**—हिंसादि पापों के प्रत्याख्यान नहीं करने से लगने वाली क्रिया को अप्रत्याख्यानिकी क्रिया कहते है।

(१०) **मिथ्या दर्शन प्रत्ययिकी क्रिया**—मिथ्यात्व अर्थात् विपरीत श्रद्धा से होने वाली क्रिया को मिथ्या दर्शन प्रत्ययिकी क्रिया कहते हैं।

(११) दिट्ठिया क्रिया—जीव या किसी अजीव को रागपूर्वक देखने से होने वाली क्रिया को दिट्ठिया कहते है।

(१२) पुट्ठिया क्रिया—जीव या अजीव आदि का रागादिवश छून तथा सावद्य प्रश्न पूछने से होने वाली क्रिया को पुट्ठिया कहते हैं।

(१३) पाडुच्चिया क्रिया—जीव और अजीव आदि पदार्थो मे एक दूसरे की अपेक्षा अच्छा-बुरा देखकर रागादि करने से होने वाली क्रिया को पाडुच्चिया कहते है।

(१४) सामन्तोवणिवाइया क्रिया—अपने सुन्दर भवन या सुन्दर पशु आदि को देखकर लोगो से होने वाली प्रशसा से मन मे रागादि उत्पन्न हो उस क्रिया को सामन्तोपनिपातिकी क्रिया कहते हैं।

(१५) नेसट्ठिया क्रिया—अपने हाथ आदि से मनुष्य, बाण या पत्थर आदि फैंकने से होने वाली क्रिया को नेसट्ठिया कहते है।

(१६) साहत्थिया—अपने हाथ से किसी को ताडना, पीटना आदि करने से होने वाली क्रिया को साहत्थिया कहते है।

(१७) आणवणिया (आज्ञापनिका)—आज्ञा देने या जीव आदि किसी चीज के मगाने मे होने वाली क्रिया आणवणिया (आज्ञापनिका) कही जाती है।

(१८) विआरणिआ—कागज, वस्त्र या दुष्ट भाव से किसी जीव के शरीर का विदारण करने से होने वाली क्रिया को वैंदारणिकी कहते हैं।

(१९) **अणाभोगवत्तिया**—विना उपयोग के गमनागमन आदि की क्रिया करने में होने वाली क्रिया को अणाभोगवत्तिया कहते हैं।

(२०) **अणवकंखवत्तिया**—हिताहित की अपेक्षा बिना किये ही की गई अपध्यान और हिंसा, झूंठ आदि की क्रिया से होने वाली क्रिया को अनवकांक्षवत्तिया कहते है।

(२१) **पओगवत्तिया**—मन, वचन, काया के सावद्य तथा प्रमादपूर्वक क्रिया करने से होने वाली क्रिया को प्रयोगवत्तिया कहते हैं।

(२२) **सामुदाणिया**—पशु-पक्षियों की लड़ाई और अपराधियों के शूलारोपण आदि देखने के लिए सामूहिक रूप से जो खुशियाँ मनाई जाती है उससे होने वाली क्रिया को सामुदाणिया कहते हैं।

(२३) **रागवत्तिया**—राग या लोभादि वश क्रिया करने से होने वाली क्रिया को रागवत्तिया कहते हैं।

(२४) **दोसवत्तिया**—द्वेप से होने वाली क्रिया को दोसवत्तिया कहते है।

(२५) **ईर्यापथिकी**—सूत्रानुसार क्रिया करने या निर्मोह भाव से क्रिया करने से होने वाली क्रिया को ईर्यापथिकी कहते है। ग्यारहवें से तेरहवें गुणस्थान तक वाले जीवो की यही एक क्रिया होती है।

शिष्य—गुरुदेव ! आपने आश्रव के बयालीस भेद समझाने की कृपा की, अब आश्रव के पच्चीस, पांच व बीस भेद बताने का कष्ट करें।

गुरुदेव—ऊपर वर्णित पच्चीस क्रियाओ मे आश्रव के पच्चीस भेद कहे जाते हैं, तथा (१) मिथ्यात्व, (२) अव्रत (३) प्रमाद, (४) कषाय और (५) अशुभयोग ये पाच आश्रव के प्रमुख भेद है। ये पाच भेद तथा प्राणातिपात आदि पाच अव्रत के पाच भेद, श्रोत्र आदि पाच इन्द्रियो का वश मे न रखने रूप पाच भेद, मन, वचन और काया इन तीनो योगो का वश मे न रखने के तीन भेद, भड उपकरण व सूई कुशाग्र मात्र का अयतना मे लेने और रखने रूप दो भेद, इस प्रकार कुल बीस भेद आश्रव के सामान्य रूप से कहे गये है।

शिष्य—गुरुदेव! कर्म बध के कारणो मे मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और अशुभ योग को प्रमुख कारण माना है तो मिथ्यात्व क्या है? और उसके कितने भेद हैं?

गुरुदेव—सर्वज्ञ प्रणीत जीव आदि पदार्थों को नहीं मानना, न्यूनाधिक मानना या विपरीत मानना इसे मिथ्यात्व कहते हैं। स्थानाग सूत्र के अनुसार मिथ्यात्व के दस भेद कहे गये है जो इस प्रकार है—

(१) जीव को अजीव श्रद्धना, (२) अजीव को जीव श्रद्धना, (३) अहिंसा, सयम, शाति, मुक्ति आदि धर्म को अधर्म मानना, (४) हिंसा आदि अधर्म को धर्म मानना, (५) पच महाव्रत धारी साधु को असाधु मानना, (६) असयमी, भोगी असाधु का साधु मानना, (७) सम्यक् दर्शन आदि मोक्ष मार्ग को ससार का मार्ग मानना, (८) ससार के मार्ग को मोक्ष का मार्ग मानना, (९) कर्म मुक्त सिद्ध आदि को अमुक्त मानना, (१०) अमुक्त को मुक्त मानना मिथ्यात्व है।

प्रकारान्तर से मिथ्यात्व के पाच भेद कहे गये हैं जैसे—

(1) आभिग्रहिक—तत्त्वत्व की परीक्षा किए बिना किसी बात को आग्रहपूर्वक पकडे रखना।

(२) **अनाभिग्रहिक**—विना परीक्षा के सब धर्मों को समान समझना या मिथ्या व सत्य मार्ग का दृढ पकड़ नहीं होना।

(३) **आभिनिवेशिक**—अपने मान्य परम्परा को सदोष जानते-मानते हुए भी दुराग्रह वश असत्य को सत्य बताना और उसी में स्थिर रहना।

(४) **सांशयिक**—जीव आदि तत्त्वों के विषय में संशयशील रहना।

(५) **अनाभोगिक**—अज्ञानतावश तत्त्वातत्त्व के ज्ञान शून्य होना यह प्रायः असंज्ञी जीवों को होता है।

शिष्य—गुरुदेव! देव, गुरु, और धर्म के सम्बन्ध में रूढ़िवश लौकिक पर्वों को मानना इसे भी मिथ्यात्व कहते हैं, वह किस प्रकार है?

गुरुदेव—व्यवहार में लौकिक मिथ्यात्व आदि अन्य भेद भी किए है जो लौकिक पर्वादि से सम्बन्धित हैं, ये दस प्रकार के है।

यथा—

(१) **लौकिक मिथ्यात्व**—संसार के मायावी प्रपंचों से युक्त सरागी देवों को देव मानना एवं यज्ञ-स्नान आदि और तीर्थ यात्रा में धर्म मानना।

(२) **लोकोत्तर मिथ्यात्व**—वीतराग देव और निर्ग्रन्थ गुरु की स्तुति, वन्दना और मांगलिक पाठ आदि से सांसारिक सुखों की इच्छा करना।

(३) **कुप्रावचनिक मिथ्यात्व**—एकान्तवादी सरागियों की वाणी को शास्त्र मानकर तदनुकूल आचरण करना अर्थात् मिथ्यामत की क्रियाओं में श्रद्धा रखना।

(४) न्यून मिथ्यात्व—शास्त्र कथित भावो को अपनी मनमानी कल्पना से मूल रूप मे कम मानना जैसे निन्हव जमाली द्वारा 'कडे माणे कडे' को 'कडे माणे अकडे' कहा गया।

(५) अधिक मिथ्यात्व—जीव आदि तत्त्वो के स्वरूप मे अधिक मानना जैसे अवगाहना की अपेक्षा ससारी आत्मा स्वदेह प्रमाण होता है, उसे लोक व्यापी मानना अधिक मिथ्यात्व है और अगुष्ठ प्रमाण मानना न्यून मिथ्यात्व है।

(६) विपरीत मिथ्यात्व—चैतन्य स्वरूप आत्म तत्त्व की स्वतन्त्र सत्ता मानने के बदले आत्मा का पचभूतो के सयोग से उत्पन्न मानना।

(७) अक्रिया मिथ्यात्व—आत्मा को अक्रिय मानना अथवा ज्ञान क्रिया युक्त मुक्ति मार्ग मे क्रिया का निषेध कर मात्र ज्ञान से मुक्ति मानना।

(८) अज्ञान मिथ्यात्व—ज्ञान को सकल्प-विकल्प का कारण मानकर अज्ञानवादी की तरह अज्ञान से ही मुक्ति मानना। यह कहना कि बालक दशा मे प्राणी हिंसादि पापो का आचरण कम करता है जबकि ज्ञानी होकर वह अधिक पापाचरण करने लगता है। इस प्रकार अज्ञान को ही श्रेयस्कर मानना अज्ञान मिथ्यात्व है।

(९) अविनय मिथ्यात्व—देव, गुरु, धर्म के विनय मे श्रद्धा भाव नही रखना।

(१०) आशातना मिथ्यात्व—तत्त्वातत्त्व का सम्यक् विचार किए बिना अश्रद्धा से भ्रम तथा तर्क के बल पर शास्त्र वाणी पर यद्वा तद्वा प्रलाप करना। यह कहना कि सिद्ध किसी से

मिलते-जुलते नहीं और न ज्ञानोपदेश देकर भव्य आत्माओं का कल्याण कर पाते हैं, ऐसी दशा में उनको क्या आनन्द है? इससे तो हम मनुष्य लोक के प्राणी अच्छे हैं जो चतुर्विध संघ की सेवा करते हुए धर्म प्रचार करते हैं। ऐसे निर्ग्रन्थ गुरु और धर्म तत्त्व के प्रतिकूल प्रतिपादन करना। आशातना मिथ्यात्व है।

शिष्य—गुरुदेव! आश्रव के भेदों में पच्चीस क्रिया और मिथ्यात्व की जानकारी प्राप्त हुई परन्तु प्रमाद और कषाय को भी आश्रव कहा है, इनके कितने भेद हैं। समझाने की कृपा करें।

गुरुदेव—प्रमाद के अज्ञान आदि अनेक प्रकार बताये गये है, उनमें मुख्य पांच प्रकार हैं जैसे कहा है—मज्ज विसय कसाया, निद्दा विगहा य पंचमी भणिया। ए ए पंच पमाया, जीवं पाडंति संसारे। अर्थात् मद्य, विषय कषाय, निद्रा और विकथा ये पाच प्रमाद जीव को संसार सागर में गिराने वाले हैं।

(१) इनमें पहला प्रमाद मद्य अर्थात् नशे के पदार्थों का सेवन करना है।

(२) शब्द, रूप, गंध, रस और स्पर्श इन पाच इन्द्रियों के विषयों में प्रीति रखना विषय रूप प्रमाद है।

(३) क्रोध, मान, माया, लोभ संसार बढाने वाले होने से इन चारों को कषाय कहा गया है। इन चारों का निग्रह नहीं करना कषाय रूप प्रमाद है।

(४) निद्रा—पांच प्रकार की निद्राओं का सेवन करना निद्रा रूप प्रमाद है।

(५) विकथा—देश कथा, राज कथा, भोजन कथा, अर्थ कथा, स्त्री कथा, दर्शन भेदिनी, चारित्र भेदिनी आदि सात प्रकार की विकथाओं में से कोई विकथा करना विकथा रूप प्रमाद है।

शिष्य—भगवन्! आपने आश्रव का विवरण समझाकर हमें कर्म बंध से बचने की शिक्षा दी। इसके लिए हम आपका उपकार नहीं भूल सकते, पर एक शंका होती है कि तत्त्वार्थ सूत्र में शुभ और अशुभ योग को आश्रव कहा गया है और हम शुभ योग को संवर कहते हैं यह कैसे? शास्त्रीय आधार से बताने की कृपा करें।

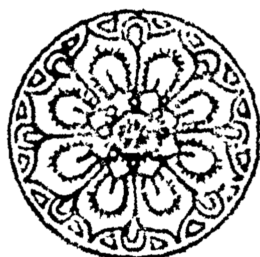
गुरुदेव—शिष्य! तुम्हारी शंका ठीक है। योग का पूर्ण निरोध करना संवर कहा गया है, जो चौदहवें अयोग गुणस्थान वाला को होता है, किन्तु व्यवहार मार्ग की साधना करने वाले का अयोग दशा प्राप्त नहीं होती, उनके लिए शुभ योग से अशुभ को रोकना संवर कहा गया है। इसी अपेक्षा से पांच समिति, बारह भावना, पांच प्रकार के स्वाध्याय आदि क्रियाओं को संवर कहा गया है, क्योंकि इनसे अशुभ प्रवृत्तियां रोकी जाती हैं। भगवती सूत्र के पहले शतक में एक प्रश्नावली के माध्यम से यह समझाया गया है कि जीव आत्मारम्भी, परारंभी, तदुभयारंभी और अनारंभी है। संसार के सभी जीव यानी चौबीस ही दंडक के जीव आत्मारंभी, परारंभी और तदुभयारंभी होते हैं। किन्तु मनुष्य में आत्मारंभी, परारंभी तदुभयारंभी और अनारंभी यों चारों प्रकार के होते हैं। इस विषय को स्पष्ट करते हुए भगवती शतक १ उद्देश्य १ सूत्र ४८ में इस प्रकार कहा है—

गौतम! जीव दो प्रकार के हैं। सिद्ध और संसारी। इनमें जो सिद्ध जीव हैं वे न आत्मारंभी हैं, न परारंभी हैं और न तदुभयारंभी हैं परन्तु अनारंभी हैं। संसारी जीव दो प्रकार के हैं—संयमी और असंयमी। इनमें से संयमी दो प्रकार के हैं—प्रमत्त संयमी और अप्रमत्त

संयमी। इनमें जो अप्रमत्त संयमी है वे आत्मारंभी नही है, परारंभी नहीं हैं, तदुभयारंभी नही होते किन्तु अनारंभी है। पर जो प्रमत्त सयमी है वे 'सुहं जोगं पडुच्च' अर्थात् प्रति लेखन आदि शुभयोग की अपेक्षा न आत्मारंभी है, न परारंभी हैं, न तदुभयारंभी है अपितु अनारभी है और 'असुहं जोगं पडुच्च' अर्थात् अशुभ योग की अपेक्षा आत्मारंभी भी हैं और तदुभयारंभी हैं परन्तु अनारभी नहीं है जो असयमी जीव है वे आत्मारंभी भी है, परारंभी भी है, तदुभयारम्भी है किन्तु अनारंभी नही होते।

उपर्युक्त सूत्र में शुभ योग की अपेक्षा प्रमत्त संयमी को एकात अनारंभी कहा है। इस आधार से शुभ योग को अशुभ प्रवृत्ति रोकने के प्रधान दृष्टिकोण से संवर माना गया है। ऐसा शुभ योग आश्रव नहीं होता है।

इस प्रकार अशुभ योग को आस्रव माना गया है। कर्मबंध का कारण होने से आस्रव त्यागने योग्य है।



संवर तत्त्व

पिछले अध्याय मे कर्म वध के कारणो पर विचार किया अब वध निरोध और कर्म-निर्जरा रूप सवर और निर्जरा के प्रकारो को क्रमश वताया जायेगा।

शिष्य ने पूछा—भगवन् ' जैसे कर्म वध के कारणों का विचार आश्रव मे वताया, वैसे ही अव यह समझाइये कि सवर क्या है और वह कितने प्रकार का है ?

उत्तर देते हुए गुरु देव ने कहा—आत्मा मे आने वाले कर्मों को जिन कारणा से रोका जाय उसे सवर कहते हैं। 'सवरणम् सवर" इस व्युत्पत्ति के अनुसार आत्मा को वध मे सवृत्त रखना (वचाना) ही सवर है। तत्त्वार्थ सूत्रानुसार 'आश्रव निरोध सवर" कहा गया है। जिसका अर्थ होता है आश्रव अर्थात् कर्मों के आने का निरोध करना सवर कहा जाता है। वह पाच, बीस और सत्तावन भेद वाला है।

शिष्य ने जिज्ञासा करते पूछा भगवन् ' सवर के पाच भेद कौन से हैं ?

गुरुदेव—(१) सम्यक्त्व, (२) विरति, (३) अप्रमाद, (४) अकपाय और (५) शुभ योग। ये सवर के प्रमुख पाच भेद है। प्रश्नव्याकरण सूत्र के अनुसार अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और

अपरिग्रह इन पाँचों को भी धर्म के द्वार रूप से कहा गया है। प्रकारान्तर से संवर के दो भेद भी किये गये हैं—(१) द्रव्य संवर और (२) भाव संवर। कर्म पुद्‌गलों के आगमन को रोकना द्रव्य संवर कहा गया है और आत्मा की अशुभ प्रवृत्ति रूप भावों को रोकना भाव संवर कहा है।

शिष्य—गुरुदेव ! संवर के सम्यक्त्व आदि पाँच भेद बतलाये उनमें सम्यक्त्व क्या है ?

गुरुदेव—तत्त्वों के यथावत् श्रद्धान करने को सम्यक्त्व कहते हैं, जैसा कि तत्त्वार्थ सूत्र मे कहा है—तत्त्वार्थ श्रद्धानम् सम्यग्दर्शनम् (अ. १ सूत्र २) तथा अरिहंत देव, निर्ग्रन्थ गुरु और दयामय धर्म पर दृढ़ विश्वास रखना सम्यक्त्व कहा जाता है। आप्तवाणी में भी कहा है कि वीतराग कथित तत्त्वों का स्वभाव से उपदेश या भाव पूर्वक अन्तःकरण में श्रद्धान् करने को सम्यक्त्व कहा गया है। व्यवहार में देव, गुरु, धर्म पर सम्यक् श्रद्धा रखने को भी सम्यक्त्व कहा जाता है।[१]

शिष्य—गुरुदेव ! कोई सम्यक्त्वधारी है या नहीं। इसको जानने के क्या लक्षण हैं ?

गुरुदेव—सम्यक्त्व के पाँच लक्षण हैं—(१) प्रशम, (२) संवेग, (३) निर्वेद, (४) अनुकम्पा और (५) आस्था।

शिष्य—गुरुदेव ! प्रशमादि का क्या स्वरूप है ?

गुरुदेव—(१) अनन्तानुबंधी कषाय और मिथ्यात्व के उपशम को प्रशम कहते हैं, (२) संवेग का अर्थ मोक्ष की तीव्र अभिलाषा होना है। (३) निर्वेद का अर्थ संसार के भोगों में उदासीनता होना है। (४) अनुकम्पा का अर्थ दुःखियों के दुःख से हृदय का अनुकम्पित होना अर्थात्

---

१. तहियाणं तु भावाणं, सब्भावे उवएसणं।
भावेणं सद्दहंतस्स सम्मत्तं तं वियाहियं ॥ उत्तरा. अध्याय २८ गाथा १५

करुणा भाव से दिल का पिघल जाना है व (५) आस्था का अर्थ वीतराग कथित सिद्धान्त वाणी पर दृढ विश्वास होना है अर्थात् जीवादि तत्वा पर सम्यक् विश्वास होना आस्था कहा गया है।

शिष्य—भगवन्! सम्यक्त्वधारी की रुचि कैसी होनी चाहिये?

गुरुदेव—सम्यक्त्व सम्पन्न व्यक्ति की वीतराग वाणी के श्रवण और आराधना में हार्दिक प्रीति होती है, कई दिना का भूखा व्यक्ति जैसे उत्तम भोजन मे रुचि करता है और विद्यार्थी योग्य विद्या दाता को पाकर लगन से अध्ययन करता है। तथा शक्तिशाली तरुण व्यक्ति जैसे युवतियो के मनोहर राग-रग म रुचि करता है वैसे ही भव्य प्राणी की धर्माचरण एव वीतराग वाणी के श्रवण मे प्रगाढ रुचि होती है। ये तीन सम्यक्त्व के लिंग बतलाये गये है।

शिष्य—गुरुदेव! सम्यक्त्व यह आत्मिक भाव है वह बाहर के पौद्गलिक (भौतिक निमित्तो) को पाकर डोलायमान क्यो हो जाता है? उसकी स्थिरता के क्या उपाय हैं?

गुरुदेव—जलते दीपक का सुरक्षित रखने के लिये काच के गोला या अन्य आवरण की आवश्यकता है और उसी प्रकार सम्यक्त्व भाव की सुरक्षा के लिये भी चार उपाय बतलाये गये हैं। जैसे (१) सत्सग और सत्साहित्य म परम तत्त्व का परिचय करना, (२) परम तत्त्व के जानकार सत्पुरुषो की सेवा करना, (३) मिथ्यात्वी की सगति न करना और (४) सत् श्रद्धा से पतित व्यक्ति जो अश्रद्धा भाव मे चला गया है और जो भौतिकवाद, अनात्मवाद आदि में मिथ्या श्रद्धा रखता है उनकी सगति मे बचना, ये चार सम्यक्त्व स्थिरीकरण के उपाय हैं।

शिष्य—भगवन्! सम्यक्त्व के स्वरूप का परिचय देते हुए आपने अरिहन्त देव, निर्ग्रन्थ गुरु और दयामय धर्म पर विश्वास रखने को

सम्यक्त्व कहा तो देव, गुरु और धर्म का स्वरूप क्या है ? यह बतलाने की कृपा करें।

गुरुदेव ने उत्तर देते हुए कहा—आराध्य देवों में अन्य देवों की अपेक्षा विशिष्टता होती है। वे राग-द्वेष आदि मन के समस्त दोषों पर विजय दिलाने वाले होते हैं, जिनमें राग-द्वेष और काम-क्रोधादि हैं, वे तो सामान्य जीवों की तरह जन्म-मरण के चक्कर मे पड़े होते हैं, अतः वे कल्याणार्थी के लिए आराध्य नहीं हो सकते, वास्तव में आराध्य देव वे ही है जो रागादि दोषों पर विजय पा चुके है जैसा कि कहा है—"दसट्ठ दोसा न जस्स सो देवो" अर्थात् जिनमें अठारह दोष नहीं पाये जाते हैं तथा (१) अनन्त ज्ञान, (२) अनन्त दर्शन, (३) अनन्त सुख, (४) अनन्त वीर्य, (५) दिव्य ध्वनि, (६) भामंडल, (७) स्फटिक सिंहासन, (८) अशोक वृक्ष, (९) कुसुम वृष्टि, (१०) देव दुंदुभि, (११) छत्र, (१२) चवर ये १२ गुण पाये जाते हैं, वे मुमुक्षु के लिए आराध्य देव होते हैं।

शिष्य—भगवान् ! वे अठारह दोष कौन से हैं, जिनसे अरिहन्त देव मुक्त होते हैं ?

गुरुदेव ने उत्तर देते हुए कहा—ज्ञानावरणीय आदि घाति कर्मों के उदय से जीव अठारह दोषों से युक्त होता है। जैसे ज्ञानावरणीय के कारण अज्ञान दोष, दर्शनावरणीय के उदय से निद्रा दोष, मोहनीय कर्म के उदय से (१) मिथ्यात्व, (२) अविरति, (३) राग, (४) द्वेष, (५) हास्य, (६) रति, (७) अरति, (८) भय, (९) शोक, (१०) दुगंछा (घृणा) और (११) काम विकार ये ग्यारह दोष जीवों के साथ लगे रहते हैं फिर अन्तराय कर्म के कारण—(१) दानान्तराय, (२) लाभान्तराय, (३) भोगान्तराय, (४) उपभोगान्तराय, और (५) वीर्यान्तराय ये पांच दोष होते हैं। अन्तराय के कारण ही

विविध प्रकार के सद्कार्या मे वाधा आती रहती है, इस प्रकार पहले के १३ दोपो के साथ इन पाचो को मिलाने से १८ दोप होते ह। इन १८ दोपो मे सर्वथा निर्लेप (मुक्त) महापुरुष ही आराध्य देव कहे जा सकते ह। उनकी आरावना और उपासना से ही कल्याणार्थी अपने अन्तर दोपो पर विजय प्राप्त कर सर्वथा दु ख मुक्ति का अधिकारी वनता है। देव योनि के असख्य देव रागादि दोपो से युक्त होने के कारण साधक को वधन मुक्त नही कर सकते। अत मुमुक्षु को इन १८ दोपो से मुक्त देव को ही आराध्य मानकर श्रद्धा करनी चाहिये। आराध्य देव को जिनन्द्र, अरिहन्त और देवाधि देव भी कहते ह।

शिष्य—भगवन्! अरिहन्त देव की क्या-क्या विशेषताएँ हैं?

गुरुदेव ने उत्तर म कहा—अरिहन्त अनन्त चतुष्टय के धारक होते ह, खासकर अनन्त ज्ञान, अनन्त दशन, अनन्त चारित्र और अनन्त शक्ति के भण्डार होते है। वे असख्य देव देवियो के स्वामी इन्द्र से भी चलायमान नही किए जा सकते, वे देव देवेन्द्रो के पूजनीय होते है। सामान्य केवली की अपेक्षा तीर्थंकर अरिहत मे अष्ट महा प्रतिहाय भी विशेप पाये जाते ह, जो इस प्रकार हैं—(१) अशोक वृक्ष, (२) देव कृत अचित पुप्प वृष्टि, (३) दिव्य ध्वनि, (४) स्फटिक सिहासन, (५) देव कृत छत्र, (६) चवर (७) देव दुन्दुभि और (८) भामण्डल।

शिष्य—गुरुदेव! सामान्य केवली और तीर्थंकर अरिहन्त मे क्या अन्तर है?

उत्तर मे गुरुदव ने कहा—दोनो प्रकार के अरिहन्तो मे वीतरागता और सर्वज्ञता तो समान है क्योकि दोनो ने घाति कर्मो का क्षय कर लिया है। किन्तु तीर्थंकर अरिहत की यह विशेपता है कि वे धम दशना देकर चार तीथ की स्थापना करते हैं और उपदेश द्वारा

ज्ञान की गंगा बहाकर लाखों जीवों को प्रतिबोध देते है पर सामान्य अरिहत (केवली) चार तीर्थ की स्थापना नही करते। उपदेश द्वारा भव्य जीवों को प्रतिबोध देना भी उनके लिये अनिवार्य नही है। सामान्य अरिहन्त में देव कृत अष्ट प्रतिहार्य भी नही होते। जीवन के अन्त में चार अघाति कर्मो का क्षय कर मुक्ति प्राप्त करना दोनो के लिये समान है।

शिष्य—भगवन्! वीतराग होने से अरिहंत किसी पर प्रसन्न नहीं होते फिर उनकी भक्ति और स्तुति करने से क्या लाभ है?

उत्तर देते हुए गुरुदेव ने कहा—यह ठीक है कि अरिहंत वीतराग है किन्तु सयोगी होने के कारण मन, वाणी और काय की क्रिया उनके भी होती है। अत: ग्राम नगरों मे विचरण करते हुए वचन योग से अरिहंत भी देशना फरमाते है। उनकी धर्म-देशना से लाखों मुमुक्षु मिथ्यात्व त्याग कर सम्यक्त्व ग्रहण करते, श्रावक धर्म और साधु धर्म स्वीकार करते और अपनी चंचल आत्मा को धर्म में स्थिर कर परम-पद मोक्ष के अधिकारी बन जाते हैं। राग-द्वेष रहित होकर भी अरिहंत भगवान् परम करुणा रूप होने से वे अधर्म मार्ग में गिरते हुए प्राणियों को धर्म में स्थिर कर कल्याण मार्ग मे आगे बढ़ाते है। अत: उन्हें पतित-पावन भी कह सकते है और मोक्ष मार्ग के प्रवर्तक भी कहते हैं। भगवान् महावीर ने मेघकुमार के अस्थिर मन को उपदेश द्वारा पूर्व जन्म की स्मृति दिलाकर संयम मे स्थिर किया जो शास्त्र मे स्वाध्यायियो के लिये प्रसिद्ध है। अरिहंत की भक्ति करने वाले को शुभ अध्यवसायो द्वारा अशुभ कर्म की निर्जरा होने से सुख शान्ति प्राप्त होती है इसलिये भी अरिहंत प्रभु की भक्ति लाभकारी कही गई है। इसके विपरीत राग-द्वेष युक्त देवों को आराध्य मानकर भक्ति करना मिथ्यात्व होने से बंध का कारण बताया गया है।

शिष्य—गुरुदेव ! सर्वथा रागादि दोष मुक्त अरिहंत आज कहीं भी दृष्टिगोचर नहीं होते फिर असत् पदार्थ पर श्रद्धा कैसे की जाय ?

गुरुदेव ने उत्तर में कहा—तुम्हारी शंका ठीक है। किन्तु इस देश में अरिहंत के दृष्टिगोचर नहीं होने से ही उनको असत् नहीं कहा जा सकता है। क्योंकि भरत खण्ड के अलावा शास्त्र में पांच महाविदेह क्षेत्र भी माने गये हैं जहां पर सदाकाल अरिहन्त विद्यमान रहते हैं। मनुष्य लोक के पांच विदेह क्षेत्र की अपेक्षा आज भी बीस अरिहंत विद्यमान हैं। भरत खण्ड में हीयमान और वर्धमान रूप से काल का परिवर्तन होने के कारण अवसर्पिणी काल के तीसरे और चौथे आरे में एक के बाद एक ऐसे चौबीस तीर्थंकर होते हैं। अभी यहां पर पंचम काल प्रवर्तमान होने से तीर्थंकर नहीं होते। उनकी आज्ञा रूप जिनवाणी का अनुपालन करने वाले आचार्य, उपाध्याय और संतगण ही अरिहंत की वाणी का आज उपदेश करते हैं।

शिष्य—गुरुदेव ! महाविदेह में बीस तीर्थंकर शाश्वतिक होना बतलाया है उनके नाम भी बतायें जायें तो अच्छा है।

उत्तर में गुरुदेव ने कहा—महाविदेह के तीर्थंकरों को विहरमान कहते हैं उनके नाम ये हैं—

(१) श्री सीमंधिर स्वामी, (२) श्री युगमंधिर स्वामी, (३) श्री बाहु स्वामी, (४) श्री सुबाहु स्वामी, (५) श्री सुजात स्वामी, (६) श्री स्वयंप्रभ स्वामी, (७) श्री ऋषभानन स्वामी, (८) श्री अनन्तवीर्य स्वामी, (९) श्री सूरप्रभ स्वामी, (१०) श्री विशालधर स्वामी, (११) श्री वज्रधर स्वामी (१२) श्री चन्द्रानन स्वामी, (१३) श्री चन्द्रबाहु स्वामी, (१४) श्री भुजग स्वामी, (१५) श्री ईश्वर स्वामी, (१६) श्री नेमप्रभ स्वामी, (१७) श्री वीर सेन स्वामी,

(१८) श्री महाभद्र स्वामी, (१९) श्री देवयश स्वामी, और (२०) श्री अजितवीर्य स्वामी।

शिष्य—गुरुदेव ! अरिहंत देव की वीतरागता का जन समाज में कोई प्रभाव दृष्टिगोचर होता है क्या ?

गुरुदेव ने कहा—हाँ, अरिहन्त देव तन, मन और वाणी की विलक्षणता से जनसाधारण को प्रभावित किए बिना नहीं रहते। उनके आसपास का वातावरण इतना शुद्ध होता है कि जन्म सिद्ध वैरभाव वाले शेर और बकरी जैसे प्राणी भी अपनी शत्रुता भूल जाते हैं। चिन्तातुर व्यक्ति उनके पास आकर शोक मुक्त हो जाता है और चारों दिशा में पच्चीस पच्चीस कोस तक अतिवृष्टि, अनावृष्टि, ईति-भीति आदि उपद्रव नहीं होते हैं। अरिहंत में विश्व मैत्री की निर्मल भावना होने से उनके शरीर का रक्त भी मधुर होता है, मानों उनके तन-मन में क्षार रहा ही न हो। इस प्रकार अरिहंत के चौंतीस अतिशय व पैंतीस वाणी के गुण बतलाये हैं, जो शास्त्र के स्वाध्याय से समझना चाहिये।

शिष्य—शिष्य ने देव के सम्बन्ध में पृच्छा करते हुए अर्ज की—गुरुदेव ! वैदिक परम्परा में आराध्य देव के सगुण और निर्गुण; साकार और निराकार रूप से दो प्रकार किये हैं, वे ब्रह्म को निर्गुण-निराकार मानते हैं वैसे ही क्या जैन शास्त्र में भी निर्गुण निराकार देव माना गया है ?

गुरुदेव ने उत्तर देते हुए कहा—जैन शास्त्रानुसार अरिहंत देव को साकार माना गया है क्योंकि उनके शरीर होता है किन्तु सिद्धों ने आठों कर्मों का क्षय कर लिया है इसलिए उनको शरीर रहित होने से निराकर कहा जाता है।

शिष्य—सिद्ध भगवान् निराकार और अकर्ता हैं तब वे अपने वाणी योग से कल्याणकारी प्राणियो को उपदेश नहीं दे सकते फिर उनकी भक्ति क्यो की जाती है ?

उत्तर देते हुए गुरुदेव ने कहा—यह सच है कि सिद्ध भगवान् निष्क्रिय, निराकार और अकर्त्ता हैं वे मात्र ज्ञानादि आत्मगुणो मे आत्म-स्वरूप मे स्थित रहते है, फिर भी भक्त अपनी शुभ भावना और मन, वाणी, काया के शुभ योग के कारण पुण्य का सचय करता है और सचित अशुभ कर्मों को हल्का कर लेता है। इसमे उसे सहज शाति का लाभ होता है। अकर्ता होने से सिद्ध भगवान् भक्त को सुख-शाति देने की इच्छा नही कर तब भी भक्तो को शाति लाभ होता है। जैसे किसी नदी या तलाई के तट पर बैठने वाले को जल की शीत लहर से ही शाति मिलती है और बगीची की शीतल छाया और हरे भरे वृक्ष के पास बैठने वाले की दृष्टि म तरावट और मस्तिष्क मे शाति प्राप्त होती है, ऐसे ही सिद्धो की भक्ति से भी शाति प्राप्त होती है।

सिद्धो के आदर्श का स्मरण-चिन्तन और ध्यान करने मे भक्तो की ज्ञान चेतना जागृत होती है और शुद्ध स्वरूप की ओर बढने की प्रेरणा मिलती है।

इस प्रकार अरिहत और सिद्ध विश्व के आराध्य देव हैं इनके और दृढ श्रद्धा रखना मुमुक्षु को जन्ममरण के चक्र से मुक्ति दिलाने वाली है।

शिष्य—आराध्य देव के सम्बन्ध मे आपने अच्छी तरह से समझा दिया, अब गुरु तत्त्व के बारे मे भी समझाने की कृपा करें।

उत्तर मे गुरुदेव ने कहा—शिष्य के अज्ञान को दूर करने वाले को सद्गुरु कहते हैं। पूर्वाचार्यों ने गुरु का लक्षण बतलाते हुए

कहा है—"सोहु गुरु जो णासी आरम्भ-परिग्गहा विरओ।" अर्थात् गुरु वही है जो ज्ञानी और आरंभ परिग्रह का त्यागी होता है। सूक्त मुक्तावली में इसी बात को आचार्य सोमप्रभ ने कहा है—

'अवद्यमुक्ते पथिय: प्रवर्तते, प्रवर्तयत्यन्यजनंच निस्पृह: ।
ससेवितव्य: स्वहितैपिणा गुरु:, स्वयं तरंस्तारयितुं क्षम: परम् ॥'

अर्थात् जो पाप रहित मार्ग पर स्वयं चलते और विना किसी स्पृहा के अन्य जनों को उस मार्ग पर लगाते हैं वे ही सद्गुरु हो सकते है। आत्महित चाहने वाले, कल्याणार्थियों को ऐसे ही गुरु की सेवा करनी चाहिये। इसके विपरीत जो भोगी हैं, भंग आदि नशे का सेवन कर आनन्द मनाते हैं, वे सद्गुरु कहलाने के अधिकारी नही होते। गुण रहित वेशधारी की पूजा पापबंध की कारण होती है। जो पंच महाव्रत व समिति गुप्ति के पालक हैं, वैसे निर्लोभी गुरु ही भवसागर से तारने वाले होते हैं, संत वाणी में भी कहा है :—

"लोभी गुरु तारे नहीं, तिरे सो तारण हार।
जो तू तिरना चाहे तो, निरलोभी गुरु धार।"

सद्गुरु में सत्य, शील, संतोप और निर्लोभ वृत्ति का होना आवश्यक है।

शिष्य—गुरुदेव ! लोक में कला और शिल्प आदि सिखाने वाले शिक्षक को भी गुरु कहते हैं। क्या वे गुरुपद में नहीं आते ?

गुरुदेव ने उत्तर में कहा—शिल्प कला और भाषादि का ज्ञान कराने वाले कलाचार्य और शिल्पाचार्य को इलम की दृष्टि से लौकिक गुरु कह सकते हैं, किन्तु भवसागर से तारक सद्गुरु पंच महाव्रतधारी संत एवं साध्वी ही होते हैं। कलाचार्य और शिल्पाचार्य सभी संसार

अवस्था मे है, उनकी भक्ति भी धन धान्य एव वस्त्र आभूषण से की जाती है किन्तु धर्म गुरु परिग्रह के सम्पूर्ण त्यागी होने से वे रुपये पैसे को नही छूते, उनकी भक्ति, ज्ञान, दर्शन, चारित्र की आराधना और आज्ञा पालन से ही की जाती है, क्योकि सुसाधु वस्त्र, पात्र, आहार और धर्मस्थान भी निर्दोष ही ग्रहण करते हैं। वे कोई भेंट पूजा ग्रहण नही करते है।

शिष्य—गुरुदेव ! सतगुरु की पहचान कराते हुए आपने कहा कि वे पच महाव्रत और समिति गुप्ति के पालक होते हैं और वस्त्र, पात्र और आहार भी सदोष नहीं लेते हैं तो वे पच महाव्रत आदि और आहार में टालने योग्य दोष कौन-कौन से हैं।

गुरुदेव ने कहा—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और परिग्रह ये पाच महाव्रत होते हैं। साधु, हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह इन पाचो को सेवन करते नही, कराते नही, करने वाले का भला भी नही मानते मन, वचन और काया से। इस प्रकार पापो के सम्पूर्ण त्याग को ही महाव्रत कहते है। महाव्रत की तरह पाच समिति और तीन गुप्ति का पालन भी सयम धर्म की रक्षा के लिए आवश्यक होता है। जो इस प्रकार है—पाच समिति —

(१) ईर्या समिति—भूमि पर जीवो को देखकर विधिपूर्वक चलना।

(२) भाषा समिति—विधिपूर्वक उपयोग रखकर बोलना।

(३) एषणा समिति—वस्त्र-पात्र और आहार आदि को ग्रहण करते शुद्धाशुद्धि की गवेषणा करना।

(४) आदान भंडमत्त निक्षेपणा समिति—वस्त्र, पात्र आदि उपयोगी वस्तुओं को यतना से लेना और यतना से रखना।

(५) उच्चार पासवण परिस्थापनिका समिति—मल-मूत्र आदि त्यागने की वस्तुओं को किसी को पीड़ा न हो ऐसे निर्दोष स्थान पर विधि-पूर्वक डालना।

तीन गुप्ति इस प्रकार है :-

(१) मनो गुप्ति—मन की अशुभ प्रवृत्ति का गोपन करना।

(२) वचन गुप्ति—वाणी का संयम करके सावद्य वचन छोड़कर निर्दोष वचन बोलना।

(३) काय गुप्ति—शरीर की प्रवृतियों पर संयम रखते हुए सावद्य क्रिया से तन के व्यापार को रोकना जैसा कि शास्त्र में कहा—'गुत्ति नियत्तणे वुत्ता, असुभत्थेसु सव्वसो।' उ. अ. २४ गा. २६ अर्थात् सभी प्रकार के अशुभ कार्यों से निवृत्त होकर यतना से प्रवृत्ति करना काय गुप्ति है।

शिष्य—गुरुदेव ! आहार आदि के ग्रहण में टालने योग्य (४२) दोष कौन से हैं ?

गुरुदेव ने उत्तर में कहा—१६ उद्गम और १६ उत्पादना एवं १० एषणा के दोष मिलाकर साधु को टालने के बयालीस दोष होते हैं।

उद्गम के सोलह दोष इस प्रकार हैं :—

(१) साधु-साध्वियों के लिए बनाये गये आहारादि ग्रहण करना आधाकर्मी दोष है।

(२) किसी एक साधु के लिए बनाया गया आहारादि दूसरे साधु द्वारा लेना उद्देशिक दोष है।

(३) शुद्ध आहार मे आधाकर्मी का अशमात्र भी पडा हो उसे लेना पूतिकम दोष है।

(४) साधु और गृहस्थ के लिये सम्मिलित बनाये गये आहार आदि लेना मिश्र दोष है।

(५) साधु के लिए स्थापना करके अलग रखा हुआ आहार आदि लेना स्थापना दोष है।

(६) साधु के लिए मेहमानो के समय को बदलकर तैयार किया गया आहार लेना प्राभृतिका दोष है।

(७) अधकार मे प्रकाश करके या प्रकाश मे लाकर दिया हुआ आहार आदि लेना प्रादुष्करण दोष है।

(८) साधु के लिए खरीदकर लाये गये आहारादि लेना क्रीत दोष है।

(९) साधु के लिए उधार लेकर दिये गये आहारादि लेना पामिच्च दोष है।

(१०) साधु के लिए अपनी वस्तु दूसरे से बदलकर दिये गये आहारादि लेना परावृत्य दोष है।

(११) ग्राम या घर आदि से सामने से लाकर दिया गया आहारादि लेना अभ्याहृत दोष है।

(१२) मिट्टी आदि के लेप से बन्द (सील) किए हुए को उघाडकर दिया जाने वाला आहार आदि लेना उद्भिन्न दोष है।

(१३) ऊपर या नीचे रखे हुए पदार्थ को निस्सरणी आदि से उतार कर दिए गया आहार आदि लेना मालापहृत दोष है।

(१४) निर्बल से छीना हुआ आहार आदि लेना आछेद्य दोष है।

(१५) दो भागीदारों में से एक की इच्छा के विना दिया गया आहारादि लेना अनिसृष्ट दोष है।

(१६) अपने लिए वनाये आहार में साधु का आगमन सुनकर कुछ ज्यादा वनाकर दिया हुआ आहरादि लेना अध्यवपूरक दोष है।

ये सोलह दोष दातार द्वारा लगते है इसीलिए इनको उद्गम कहते हैं।

शिष्य—भगवन्! उत्पादना के सोलह दोष कौन से हैं? समझाइये।

गुरुदेव—उत्पादना के दोष वतलाते हुए गुरु ने कहा—

(१) धाई की तरह किसी के वालकों को खिलाकर आहारादि लेना धात्री दोष है।

(२) दूती की तरह गृहस्थ के संदेश को इधर-उधर पहुँचाकर आहारादि लेना दूती दोष है।

(३) निमित्त ज्ञान से गृहस्थ को लाभ-हानि वताकर आहारादि लेना निमित्त दोष है।

(४) अपने कुल-जाति वताकर आहारादि लेना आजीविका दोष है।

(५) भिखारी की तरह दीनता वतलाकर आहारादि लेना वनीपक दोष है।

(६) वैद्य की तरह औषध-उपचार वतलाकर आहारादि लेना चिकित्सा दोष है।

(७) गृहस्थ को क्रोध से डराकर आहारादि लेना क्रोध दोष है।

(८) मैं कौन हूँ ? तुम नही जानते, मैं तुमको श्राप दे दूँगा इस प्रकार अहकार करके आहारादिक लेना मान दोष है।

(९) कपट करके आहारादि लेना माया दोष है।

(१०) लोभ दिखाकर या लोभ से अधिक आहारादि लेना लोभ दोष है।

(११) दान से पहले या पीछे दाता की प्रशसा करके आहारादि लेना पूर्व पश्चात् सस्तव दोष है।

(१२) देवी अधिष्ठायक जैसी विद्या का प्रयोग करके आहारादि लेना विद्या दोष है

(१३) मत्र बतलाकर आहारादि लेना मन्त्र दोष है।

(१४) वशीकरणादि के लिये चूर्ण बताकर आहारादि लेना चूर्ण दोष है।

(१५) दो वस्तुओं को मिलाकर किए गए लेपादि बताकर आहारादि लेना योग दोष है।

(१६) गर्भ स्तभन, गर्भ धारण और गर्भपात आदि का उपाय बताकर आहारादि लेना मूल कर्म दोष है।

ये १६ दोष भिक्षाटन करने वाले साधु-साध्वियो को लगते हैं।

एषणा के दस दोष इस प्रकार बतलाये हैं —

(१) साध्वी या गृहस्थ को दोष की शका हो वैसी भिक्षा लेवे तो शकित दोष है।

(२) हाथ या पात्र सचित्त से भरे हों उससे आहारादि लेवें तो म्रक्षित दोष है।

(३) सचित्त वस्तु पर रखे हुऐ आहारादि लेवें तो निक्षिप्त दोष है।

(४) सचित्त से ढका हुआ आहारादि लेवें तो पिहित दोष है।

(५) पात्र से सचित वस्तु निकालकर उसी पात्र से दिये जाने वाला आहारादि लेवें तो सांह्रित दोष है।

(६) लूले, लंगड़े, अंधे ऐसे अयोग्य दाता अथवा गर्भवती से आहारादि लेवे तो दायक दोष है।

(७) सचित्त-अचित्त मिला हो अथवा शस्त्र परिणत नहीं हुआ हो ऐसा धोवन पानी या अधपका शाक आदि लेवें तो उन्मिश्र दोष है।

(८) पूर्ण शस्त्र परिणत नहीं हुआ हो अर्थात् जो पूरी तरह अचित्त नहीं हुआ हो ऐसा आहारादि लेवें तो अपरिणत दोष है।

(९) तत्काल के लीपे हुए आंगन से चल कर दिया हुआ आहारादि लेवें तो लिप्त दोष है।

(१०) ऊपर से बूंद आदि गिरते हुए दिया गया आहारादि लेवें तो छिद्रित दोष है।

ये दस दोष दाता और साधु दोनों की ओर से लगते हैं। इस प्रकार भिक्षा के मुख्य ४२ दोष टालकर सुसाधु भिक्षा ग्रहण करते हैं।

शिष्य—गुरुदेव ! पांच दोष और भी बताये जाते हैं वे कौनसे हैं ?

गुरुदेव—साधु को आहार सेवन करते समय पाँच दोषो का वर्जन करना होता हैं उन्हें माडलिक दोष कहते हैं।

(१) दूध मे शक्कर और शाक मे नमक आदि मिलाकर स्वाद के लिए खाना सयोजना दोष है। भिक्षा के समय शक्कर आदि का योग मिल गया हो तो अलग बात है खासकर उसके लिये दुबारा जाकर लाना उचित नही है।

(२) प्रमाण से अधिक खाना अप्रमाण दोष है।

(३) सरस आहार को प्रशसा करते हुए खाना अगार दोष है।

(४) नीरस आहार की निंदा करते हुए खाना धूम दोष है।

(५) शास्त्रोक्त छ कारणो के विना आहार करना अकारण दोष ह।

ये पाँच दोष भोजन के मडल पर खाते समय लगते ह।

शिष्य—गुरुदेव ' सुसाधु की वेशभूषा कैसी होती है ?

उत्तर म गुरुदेव ने कहा—शास्त्रानुसार मुनि दो प्रकार के होते हैं। (१) जिनकल्पी और (२) स्थविर कल्पी। जिन कल्पी करपात्री और पात्र धारी दोनो प्रकार के होते हैं। उनके लिये रजोहरण और मुखवस्त्रिका ये दो उपकरण आवश्यक बतलाये गये हैं। इस काल म जिनकल्प अराधना की क्षमता नही मानी जाती क्योकि जिनकल्पी को रुग्ण दशा म भी औषध सेवन वर्जित कहा है। वे उपदेशादि भी नही करते हैं।

दूसरे स्थविर कल्पी हैं ये मुखवस्त्रिका, रजोहरण, पात्र और लज्जा निवारण हेतु चोल पट्ट धारण करते हैं। चरण विहार, मधुकरी वृत्ति मे निर्दोष आहार ग्रहण और नवकल्पी विहार तथा कल्याणार्थी

प्राणियों को धर्म उपदेश देना उनकी मुख्य चर्या होती है। जैन साधु सूक्ष्म जीवों की भी हिंसा न हो इसलिये मुख पर आठ फुट की मुख-वस्त्रिका धारण किये रहते हैं। सिर, मूंछ आदि के बालों का हाथ से लुंचन करते हैं।

शिष्य—मुखवस्त्रिका धारण करने के क्या लाभ है?

गुरुदेव ने उत्तर दिया—मुख वस्त्रिका के ४ लाभ हैः—(१) मुख की गर्म हवा से वायु काय आदि स्थावर एव छोटे त्रस प्राणियों की हिंसा से बचाव होता है। मुनि राजेशेखर ने अपने षट्दर्शन समुच्चय ग्रन्थ मे अन्य मत के ग्रन्थों से भी मुखवस्त्रिका की उपयोगिता प्रमाणित की है जैसे कि—

वीटेती भारतेख्याता, दारवी मुखवस्त्रिका।
दया निमित्तं भूतानां, मुख निश्वास रोधिका॥

इस श्लोक से राजेश्वर ने यह स्पष्ट किया है कि जीवों की दया के लिए मुखवस्त्रिका धारण की जाती है।

(२) जैन साधु के वाह्यलिंग में मुखवस्त्रिका और रजोहरण का विधान है। अतः मुखवस्त्रिका जैन साधु के परिचय का भी कारण होती है।

(३) सदोष भाषा न बोलने और भाषा पर नियन्त्रण रखने की स्मृति दिलाने वाली है।

(४) मुखवस्त्रिका से गुरुजनों पर व शास्त्रों पर मुख से उछलकर थूक गिरने का भी बचाव होता है।

(५) लोक व्यवहार में भी बड़ों के सामने बोलते समय मुख के आगे कपड़ा दिया जाता है। जैसा कि ज्ञाता सूत्र के प्रथम अध्ययन में

मेघकुमार के दीक्षा प्रसंग पर महाराजा श्रेणिक ने काश्यप को सदेश दिया कि सुगधित जल से हाथ-पैर को साफ करके चार पुट वाले श्वेत कपडे से मुख का बाधकर मेघकुमार के अग्र केशो का कर्तन करें। सुत्तागमे पृष्ठ ९९३।

शिष्य—कुछ लोग यह शका करते हैं कि हवा तो नाक से भी निकलती है फिर नाक को न बाधकर केवल मुख को ही क्यो बाधा जाता है?

उत्तर मे गुरु देव ने कहा—यह ठीक है कि नाक से भी श्वास की वायु निकलती है पर नाक से निकलने वाली वायु मुख की वायु के समान गर्म नही होती, वह मुख की वायु के समान सीधी न निकलकर तिरछी निकलती है और भीतर के बालो से छनकर निकलती है तथा मुख की हवा स्थूल रूप मे जितनी सघन व वेग वाली होती है नाक की हवा उतनी नही होती। अत नाक पर मुखवस्त्रिका बाधने का प्रश्न ही नही होता। छीक के समय मे जब नाक से वेग की हवा निकलने की सम्भावना होती है तब नाक पर हाथ का आवरण किया जाता है।

शिष्य गुरुदेव! मुख पर मुखवस्त्रिका बाध रखने से कुछ लोग सम्मूच्छिम जीवों की उत्पत्ति का प्रश्न करते हैं, यह कहा तक ठीक है? समाधान कराने की कृपा करें।

उत्तर मे गुरुदेव ने कहा—जो लोग मुखवस्त्रिका बाधने मे जीवो की उत्पत्ति बताते हैं। उनका कथन शास्त्रानुसार ठीक नही है। मुँहपत्ति नही बाधने वालो के भी सर्दी के समय मे छाती घन्टो बधी रहती है, उसका पसीन से गीला होना अवश्यम्भावी है किन्तु उसमे जीवोत्पत्ति नही मानी जाती फिर मुखवस्त्रिका मे थूक के गीलेपन से सम्मूच्छिम

जीवों की उत्पत्ति बताना कहाँ तक ठीक है। शास्त्र में चौदह सम्मूर्च्छिम के स्थानों मे 'खेलेसुवा' पाठ आता है किन्तु थूक या पसीना के लिए कोई पाठ नहीं आता तथा फिर मुख पर रही हुई मुखवस्त्रिका को गर्म भाप लगती रहती है इसलिए भी उसमें किसी प्रकार की जीवोत्पत्ति की सम्भावना नहीं रहती एव मुँह से हटने पर उसे सूखने के लिए फैला दिया जाता है। इसलिये मुखवस्त्रिका बांधने में जीवोत्पत्ति मानना उचित नहीं है।

शिष्य— गुरुदेव ! तत्त्वत्रयी में देव और गुरु के सम्बन्ध में आपने परिचय दिया। अब धर्म तत्त्व का स्वरूप समझाने की कृपा करें।

उत्तर देते हुये गुरुदेव ने कहा—शिष्य! शास्त्रों में धर्म दो प्रकार का बतलाया गया है। पहला श्रुत धर्म और दूसरा चारित्र धर्म। श्रुत धर्म में स्वाध्याय और सम्यग्दर्शन दोनों का समावेश होता है। जैसा कि पूर्वाचार्यों ने कहा है—"सुय धम्मो सज्झाओ।" तथा श्रुतधर्म रूप स्वाध्याय, सम्यग्दर्शन के विना धर्म रूप नहीं मानी जाती क्योंकि सम्यग्दर्शन के साथ सम्यग्ज्ञान रहता ही है अतः श्रुतधर्म से दोनों लिये जाते हैं।

शिष्य—भगवन् ! सम्यग्दर्शन जिसे सम्यक्त्व कहते हैं उसका स्वरूप क्या है ? और वह कितने प्रकार का है ?

समाधान करते हुए गुरुदेव ने कहा—सम्यग्दर्शन के लिये पहले कहा जा चुका है कि तत्त्व श्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहते हैं। सम्यक्त्व की प्राप्ति के लिये यह आवश्यक है कि दर्शन मोहनीय की तीन प्रकृतियाँ समकित मोहनीय, मिश्र मोहनीय और मिथ्यात्व मोहनीय तथा अनंतानुबन्धी क्रोध-मान माया-लोभ इन सात प्रकृतियों के उपशम क्षयोपशम, अथवा क्षय होने पर आत्मा मे जो शुद्ध अध्यवसाय उत्पन्न होता है उसे सम्यक्त्व कहते हैं। उसके पाँच भेद हैं —(१) उपशम,

(२) क्षयोपशम, (३) सास्वादन, (४) वेदक और (५) क्षायिक। यह सम्यग्दर्शन देव देवेन्द्र को भी दुर्लभ है। अत्यन्त पुण्योदय और घाती कर्म का आवरण हल्का होता है। तब कहीं जीव को सम्यक्त्व गुण की प्राप्ति होती है। यह इतना महत्त्वशाली है कि अन्तर्मुहूर्त मात्र भी यदि आत्मा ने सम्यक्त्व का स्पर्श कर लिया तो उसके लिये भवभ्रमण परिमित हो जाता है। वह अधिक से अधिक अर्द्धपुद्गल परावर्त्त काल तक संसार में रहता है। इस सीमा में वह कर्म बंधन को काटकर शिव-पद का अधिकारी बन जाता है।

शिष्य—अनादिकाल से संसार में भटकता हुआ जीव सम्यक्त्व कैसे प्राप्त करता है?

गुरुदेव—जब जीव कर्म-फल भोगते-भोगते हल्का हो जाता है तब अध्यवसाय की शुद्धि के कारण आयु कर्म के अतिरिक्त सभी कर्मों की स्थिति पल्योपम के असंख्यातवें भाग कम एक क्रोडा-क्रोडी सागरोपम रह जाती है। इस प्रकार की आत्मिक परिणति को यथाप्रवृत्तिकरण कहते हैं। यथाप्रवृत्तिकरण से जीव राग द्वेष की ग्रन्थी तक पहुंच जाता है। पूर्वाचार्यों ने माना है कि यह करण अभव्य भी कर लेते हैं। किन्तु यथा प्रवृत्तिकरण से ग्रन्थी का भेदन नहीं होता, यहां समझने की बात है कि कुछ जीव तो ग्रन्थी को दुर्भेद्य समझकर वहां से पीछे लौट जाते हैं, दूसरे नम्बर के ग्रन्थी के अगल बगल घूमते रहते हैं पर ग्रन्थी का भेदन नहीं कर पाते हैं क्योंकि यह ग्रन्थी रेशम की सघन गांठ की तरह दुर्भेद होती है। तीसरे नम्बर का कोई विशिष्ट पराक्रमी पुरुष ही परिणाम की विशिष्टता से राग द्वेष की ग्रन्थि को भेदने में समर्थ होता है। आत्मा के इस परिणाम विशेष को अपूर्वकरण कहते हैं। ऐसा परिणाम कभी पहले प्राप्त नहीं हुआ इसलिये इसे अपूर्व कहा गया है। अपूर्वकरण के बाद परिणाम की विशेष शुद्धि से तीसरा अनिवृत्तिकरण होता है। इस परिणाम के पश्चात् जीव सम्यक्त्व को

अवश्य प्राप्त करना है, वह विना सम्यक्त्व प्राप्त किये नही लौटता। अतः इसको अनिवृत्तिकरण कहा गया है। अनिवृत्तिकरण के अन्तर्मुहूर्त काल में जब एक भाग शेष रहता है तब अन्तरकरण की क्रिया की जाती है और उसमें मिथ्यात्व के पुद्गलों को आगे-पीछे करके अन्तर्मुहूर्त का काल मिथ्यात्व के दलिकों से रहित कर दिया जाता है। अतः अनिवृत्तिकरण काल की पूर्णता पर उपशम सम्यक्त्व के अध्यवसाय प्राप्त हो जाते हैं। इसमें मिथ्यात्व मोह एवं अनन्तानुवन्धी कषाय का प्रदेश उदय और विपाक उदय दोनों ही नही रहते हैं किन्तु उपशम सम्यक्त्व प्रतिपाती होता है। इसलिए अन्तर्मुहूर्त के पश्चात् अनंतानुवन्धी कषाय के उदय को पाकर वह फिर मिथ्यात्व की ओर उन्मुख हो जाता है। जब तक वह जीव मिथ्यात्व की भूमिका तक नही पहुंचता उस मध्यकालीन अध्यवसाय को सास्वादन सम्यक्त्व कहते हैं। सास्वादन सम्यक्त्व के लिए यह बतलाया गया है कि जैसे किसी को खीर-खाँड का भोजन करके उल्टी हो जाये तब उसके मुँह में कुछ काल के लिए मीठा जायका रहता है। इसी प्रकार सास्वादन सम्यक्त्व में जीव को मिथ्यात्व के उदय नहीं होने तक पूर्व प्राप्त सम्यक्त्व का आंशिक अनुभव रहता है। इसी को सास्वादन सम्यक्त्व कहते है इसकी स्थिति उत्कृष्ट छः आवलिका मात्र होती है।

शिष्य—भगवन् ! उपशम और सास्वादन का परिचय प्राप्त हुआ। अब क्षायोपशमिक सम्यक्त्व किसे कहते है ? कृपया स्पष्ट करावें।

उत्तर में गुरुदेव ने फरमाया—क्षय और उपशम दोनों पद मिलकर क्षयोपशमिक बनता है जिसका अर्थ उदय प्राप्त मिथ्यात्व और अनंतानुबन्धी कषाय के दलिकों को भोग कर क्षय करने और उदय में आने वालों का उपशम करने से जो सम्यक्त्व परिणाम प्राप्त होता है उसे क्षायोपशमिक कहते है। इसमें सम्यक्त्व मोहनीय का उदय माना गया है।

क्षायोपशमिक सम्यक्त्व मे उदयाभावी क्षय और सत्ता म उपशम माना जाता है ।

शिष्य—गुरुदेव ! वेदक सम्यक्त्व किसे कहते हैं ?

उत्तर मे गुरुदेव ने फरमाया—क्षायोपशमिक सम्यक्त्व वाला जीव जव सम्यक्त्व मोह का अन्तिम रसानुभव करता है तव सम्यक्त्व मोह के अन्तिम वेदनकाल के अध्यवसाय को वेदक सम्यक्त्व कहते हैं। षटखडागाम और कषाय पाहुड ग्रन्थो के अनुसार समकित मोहनीय के पूर्ण वेदना काल को वेदक सम्यक्त्व कहा है।

शिष्य—क्षायिक सम्यक्त्व किसे कहते हैं ? और वह कब होता है ?

गुरुदेव—अनतानुवन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ और दर्शन मोह की तीन प्रकृतिया मिथ्यात्व मोह मिश्र मोह और सम्यक्त्व मोह इन सात प्रकृतियो के क्षय से होने वाले परिणाम को क्षायिक सम्यक्त्व कहते हैं। जव सम्यक्त्व मोह से वेदन काल के पश्चात् तत्काल क्षायिक सम्यक्त्व की उपलब्धि हो जाती है। क्षायिक सम्यक्त्व अप्रतिपाती होने से आने के पश्चात् जाता नही अर्थात् यहाँ तक कि सिद्धावस्था मे भी शाश्वत काल तक विद्यमान रहता है ।

शिष्य—गुरुदेव ! श्रुत धर्म के अतिरिक्त दसरा चारित्र धर्म बतलाया, वह क्या है ?

उत्तर मे गुरुदेव ने कहा—सम्यग्दर्शन और ज्ञानपूवक होने वाले विरति परिणाम अर्थात् हिसादि स विरति (निवृति) को चारित्र कहते है, वह देश और सर्व के भेद स दो प्रकार का होता है। देश चारित्र को सूत्रकार ने "चरित्ता चरित्त" शब्द से कथन किया है। सर्वविरति चारित्र के पांच भेद हैं।

शिष्य—गुरुदेव ! सर्वविरति चारित्र पांच प्रकार का बतलाया, सो वे पांच प्रकार कौन से हैं? समझाने की कृपा करें, बड़ी दया होगी।

उत्तर में गुरुदेव ने कहा—चारित्र के पांच भेद इस प्रकार है—(१) सामायिक चारित्र, (२) छेदोपस्थापनीय चारित्र, (३) परिहार विशुद्धि चारित्र, (४) सूक्ष्म संपराय चारित्र, और (५) यथाख्यात चारित्र।

शिष्य—गुरुदेव ! आपने चारित्र के नाम तो बतलाये, उनका स्वरूप भी समझाने की कृपा करें।

गुरुदेव ने कहा—अच्छा लो ध्यान में पाँचों चारित्र के स्वरूप को श्रवण करो।

(१) सामायिक चारित्र—प्राणी मात्र को अपनी आत्मा के समान समझ कर हिंसा-असत्य आदि सम्पूर्ण पाप कर्मों के प्रत्याख्यान को सामायिक चारित्र कहते हैं, वह दो प्रकार का है—(१) इत्वरक सामायिक चारित्र और (२) यावत् कथित सामायिक चारित्र। जघन्य सात दिन, मध्यम चार मास, और उत्कृष्ट छः मास के सावद्य त्याग रूप व्रत को इत्वरक सामायिक चारित्र कहते हैं। इत्वरक सामायिक वालों को अधिक से अधिक छः मास के पश्चात् छेदोपस्थापनीय चारित्र में उपस्थापन किया जाता है। यह चारित्र भरत-ऐरावत क्षेत्र के प्रथम और अंतिम तीर्थंकर के शासनकाल में होता है। यावत् कथिक सामायिक चारित्र महाविदेह और भरत-ऐरावत के बाईस तीर्थंकरों के शासनकाल में होता है। यावत् कथिक सामायिक चारित्र वालों की छेदोपस्थापना नहीं होती है। यह सामान्य नियम है। इसका स्पष्टीकरण आगे किया जायेगा।

शिष्य—गुरुदेव ! छेदोपस्थापनीय चारित्र की क्या विशेषता होती है? उसका स्वरूप बतलाइये।

उत्तर में गुरुदेव ने फरमाया—पहले के दीक्षा काल का छेदन

करके पंच महाव्रतो मे आरोपण करने को छेदोपस्थापनीय चारित्र कहते हैं। वह दो प्रकार का है—(१) सातिचार और (२) निरतिचार—छेदोपस्थापनीय। सातिचार छेदोपस्थापनीय चारित्र उसे कहा जाता है जो मूल गुणो मे दोष लगाने पर किसी साधु की आत्मशुद्धि के लिए चार या छ मास की दीक्षा को छेदकर फिर उसे महाव्रतो मे आरोपण किया जाता है। निरतिचार छेदोपस्थापनीय चरित्र प्रथम और अंतिम तीर्थंकर के शासन मे इत्वरिक सामायिक वालो को जब समय पाकर छेदोपस्थापनीय के द्वारा महाव्रतो मे आरोपण किया जाता है अथवा एक तीर्थंकर के तीर्थ से दूसरे तीर्थंकर के तीर्थ मे प्रवेश किया जाता है तब जो साधु का महाव्रतारोपण किया जाता है वह निरतिचार छेदोपस्थापनीय कहलाता है। प्रथम और अन्तिम तीर्थंकर के छेदोपस्थापनीय चारित्र को बडी दीक्षा भी कहते हैं।

शिष्य—परिहार विशुद्धि चारित्र क्या है? उसका स्वरूप समझाइये।

उत्तर देते हुए गुरुदेव ने कहा—जिसमे परिहार तप की साधना से विशेष आत्मशुद्धि की जावे उसे परिहार विशुद्धि चारित्र कहते हैं? इसमे विशेष आत्मशुद्धि के लिए नौ साधुओ का एक दल अपने गण से निकलकर एकान्त मे साधना के विचार से जाता है। उनमे चार साधु तपस्या करते हैं, चार उनकी सेवा करते हैं और एक वाचनाचार्य का काम करता है। पहली चार की तपस्या पूरी होने पर सेवा करने वाले साधु तप करते है और पहले चार तप करने वाले साधु सेवा करते हैं। और वचनाचार्य वाचन का कार्य करता है। इस चरित्र के दो प्रकार है—निर्विश्यमान् और निर्विष्टकायिक। तप करने वाले साधुओ के चारित्र को निर्विश्यमान परिहार विशुद्धि कहते हैं और तप करके वैय्यावृत्य करने वाले अनुपरिहारिक साधुओ का निर्विष्टकायिक कहते हैं। सब मिलाकर यह १८ मास का तप होता है।।

शिष्य—गुरुदेव ! सूक्ष्म संपराय चारित्र का क्या स्वरूप है ?

गुरुदेव—जिस चारित्र में सम्पराय अर्थात् कषायें सूक्ष्म हों, किट्टीकृत सज्वलन लोभ मात्र ही रहा हो उसे सूक्ष्म संपराय चारित्र कहते है। यह दसवें गुणस्थान मे ही होता है। इसके भी दो भेद है (१) विशुद्धयमान, और (२) संक्लेश्यमान । क्षपक श्रेणी वाले जीवों को उत्तरोत्तर परिणाम की शुद्धि से विशुद्धयमान सूक्ष्म संपराय होता है, जवकि उपशम श्रेणी वाले साधक को पतनोन्मुखी अवस्था में परिणाम की संक्लिष्टता से संक्लेश्यमान सूक्ष्म सम्पराय होता है। विशुद्धयमान चारित्र वाला दसवें से वारहवें गुणस्थान में जाता है किन्तु संक्लिश्यमान परिणाम वाला दसवें से नववें गुणस्थान मे आ जाता है।

शिष्य—यथाख्यात चारित्र किसे कहते हैं ?

उत्तर में गुरुदेव ने फरमाया—जिसमें कषाय का सर्वथा उदय नहीं होने से शास्त्रानुसार निर्दोष चारित्र का पालन किया जाता हो उसे यथाख्यात चारित्र कहते है। यह ग्यारहवें, वारहवें आदि गुणस्थानों मे होता है। ग्यारहवें गुणास्थान का चारित्र वाला उपशांत कषायी वीतराग कहा जाता है, जवकि आगे के गुणस्थान वाले क्षीण कषायी वीतराग कहे जाते है।

इन पाँच चारित्रों में से किसी भी चारित्र को पालन करने वाले सुसाधु, तारक, सद्गुरु होते हैं। वे स्वयं भव सागर को पार करते हैं और सेवा में आने वाले अन्य भव्यजनों को भी संसार सागर से पार कराने में सहायक होते हैं। ऐसे सुसाधु मनुष्य होकर भी देव तुल्य होते हैं। शास्त्र में इन्हें धर्म देव कहा गया है। इस प्रकार अरहंतदेव, त्यागी गुरु और श्रुत चारित्र रूप धर्म पर श्रद्धा रखना और देवगुरु की आज्ञा पालन में हार्दिक रुचि होना सम्यक्त्व की पहचान है। इसको व्यवहार में सम्यक्त्व कहते हैं।

शिष्य—गुरुदेव ! संवर के प्रथम भेद सम्यक्त्व के विषय में समुचित जानकारी प्राप्त हुई और सद्गुरु का परिचय देते हुए आपने साधुधर्म की भी जानकारी दी, परन्तु श्रावक धर्म क्या है ? अभी इसका परिचय नहीं मिल सका। दूसरे विरति संवर में हिंसा, मृषावाद आदि पापों से सर्वथा विरत रहने वाले साधुओं की तरह हिंसा आदि पापों से सीमित निवृत्ति करने वाले, देश विरतियों का भी परिचय देने की कृपा करें।

गुरुदेव ने कहा—धर्म का पूर्ण रूप सब त्यागी साधुओं का होता है। किन्तु जो हिंसादि पापों का सर्वथा त्याग करने की स्थिति में नहीं होते, उन मुमुक्षु जीवों के लिए दूसरा मार्ग पापों को सीमित करने का बताया गया है। इसे आगार धर्म या श्रावक धर्म भी कहते हैं। ये लोग सत्य को यथावत् जानते और मानते हुए भी पारिवारिक विवशता और अपने आत्मबल की कमी से सम्पूर्ण पापों का परित्याग नहीं कर पाते। ये अपनी दुर्बलता पर खेदानुभव करते हुए हिंसा, मृषावाद, चोरी, अब्रह्म और परिग्रह रूप पाप के सेवन में सीमित त्याग करते हैं और स्थूल रूप में हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह का त्याग करते हैं, इसी को श्रावक धर्म कहते हैं।

श्रावक धर्म में देव, गुरु, धर्म पर यथार्थ श्रद्धा रखते हुए पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत इन बारह व्रतों का पालन किया जाता है।

शिष्य—गुरुदेव ! श्रावक धर्म के बारह व्रत कौन से हैं ?

समझाते हुए गुरुदेव ने कहा—(१) स्थूल हिंसा विरमण—गृहस्थ प्रतिज्ञा करता है कि चलने फिरने वाले जीव जैसे—कीड़ी, चींटी, मक्खी, मच्छर, साँप, बिच्छू, पशु-पक्षी और मनुष्य आदि को जान

बूझकर मारने की भावना से मारना नहीं और दूसरों से जीवों की हिंसा करवाना नहीं।

(२) **स्थूल मृषावाद विरमण**—दूसरे की जान माल की हानि हो वैसा झूठ नहीं बोलना दूसरा व्रत है। इसमे जमीन, जायदाद, धन संपदा, पशु और संतानों के लिए बड़े झूठ का वर्जन किया जाता है।

(३) **स्थूल अदत्तादान विरमण**—विना दी हुई दूसरे की वस्तु का हरण करने का त्याग करना तीसरा व्रत है। इसमे व्रत की रक्षा के लिए चोर की सहायता करना, चोरी का माल लेना, झूठा माप तौल करना और वस्तु में मिलावट करना आदि दोषों का वर्जन किया जाता है।

(४) **स्थूल मैथुन विरमण व्रत**—विषय-वासना को सीमा में नियंत्रित करने के लिए गृहस्थ अपनी विवाहित पत्नी के साथ वासना की मर्यादा ग्रहण करता है और विवाहित स्त्री के अतिरिक्त अन्यत्र विषयभोग का त्याग करता है। इसको स्वदारा संतोष व्रत भी कहते हैं। काम वासना की आग जीवन धन को जलाने वाली है। जैसे घर के आंगन में रखी हुई आग घर के संरक्षण में खतरे का कारण होती है इसलिए वह किसी चूल्हे की चार दीवारी या गड्ढे में रखी जाती है। उसी प्रकार काम-वासना की आग को खुली रखने से वह आत्म-गुणों का विध्वंस करने वाली होती है। अतः वासना की आग को सीमित रखने के लिए इस व्रत की आवश्यकता है।

(५) **स्थूल परिग्रह परिमाण व्रत या इच्छा परिमाण व्रत**—इसके द्वारा गृहस्थ अपनी आर्थिक लिप्सा को सीमित करता है। सम्यग्दृष्टि यह मानता है कि परिग्रह ही संसार में दुःख का मूल है। मनुष्य यदि परिग्रह के सबंध में अपनी इच्छा सीमित रखकर चले तो सभी प्रकार के संघर्ष समाप्त हो सकते है अतः मन की शांति और

ससार के सघर्ष का टालने के लिए वह परिग्रह का परिमाण करता है। (धन-धान्य, द्विपद-चतुष्पद, जमीन-जायदाद) परिग्रह नौ प्रकार का होता है—(१) खेती की जमीन का, (२) मकानो का परिमाण करना, (३-४) अपने घर से धन-धान्य के सग्रह का परिमाण करना, (५-६) सोना-चादी जितना रखना हो उसके तोल-माप का निर्धारण करना (७-८) दास-दासी और गाय-भैंस, घोड़े आदि चतुष्पदो की सख्या का परिमाण करना, (९) घर के मेज, कुर्सी आदि सामान और मोटर, साइकिल, स्कूटर आदि वाहनों का परिमाण करना। इस व्रत मे इच्छा को परिमित करने का उपाय इस प्रकार बतलाया गया है, इससे गृहस्थ साधक का मानसिक तनाव कम होता है और उसे सतोषामृत पान करने का मौका मिलता है।

(६) **दिक् परिमाण व्रत**—इच्छा को सीमित रखने के लिए देश-देशान्तर के भ्रमण को सीमित रखना आवश्यक है। मानव मन की यह सहज स्थिति देखने मे आती है कि वह जब परिग्रह की नई-नई सामग्री को देखता है तो उसके मन मे भी उसे प्राप्त करने की इच्छा जागृत होती है। इसलिए श्रावक धर्म का छठा व्रत दिक् परिमाण कहा गया है। पूर्वादि चार दिशाएँ और ऊँचे-नीचे इन छ दिशाओ मे गाडी आदि वाहनों, नौका और वायुयान से जाने के भी प्रसग आ सकते हैं। मुमुक्षु गृहस्थ के लिए छठे व्रत से यह बतलाया गया है कि अहिंसादि पहले के पाँच व्रत निर्दोष पालन होते रहे इसलिए वह पूर्वादि छहो दिशाओ मे गमनागमन की सीमा निर्धारण करें। सीमा के निर्धारण से गृहस्थ बिना किसी कारण के केवल घूमने की दृष्टि से इधर-उधर नही भटकेगा। उसके मन की गमनागमन की इच्छा शान्त रहेगी।

(७) **भोगोपभोग परिमाण व्रत**—इसमे मुमुक्षु गृहस्थ हिंसा, असत्य आदि दोषो के कारणरूप भोग-सामग्री का परिमाण करता

है। इसमें भोगोपभोग की सामग्री को छव्वीस भाग में बाँटकर उनका परिमाण जीवन भर के लिए किया जाता है। कपड़े, जूते, फल आदि कुछ पदार्थों की संख्या से और भोजन, पानी आदि कुछ का वजन से परिमाण रखकर त्याग किया जाता है। भोगोपभोग के परिमाण से इनके लिए होने वाली हिंसा, असत्य आदि दोषों में भी कमी आ जाती है। भोग्य सामग्री के अतिरिक्त इस व्रत में ऐसे काम-धन्धों का त्याग किया जाता है जिनमें महाआरम्भ होता है। अधिक कर्मवन्ध के कारण होने से ऐसे धन्धों को कर्मादान कहते है। जो इस प्रकार हैं—

(१) अंगार कर्म—कोयले वनाकर वेचना।

(२) वन कर्म—वन कटवा करके वेचना।

(३) गाड़ी कर्म—गाड़ी आदि वनाकर वेचना या गाड़ी चलाने का काम करना।

(४) भाडी कर्म—गाड़ी, घोड़े, मोटर आदि वाहनों से भाड़ा कमाना।

(५) फोडी कर्म—हल, कुदाल आदि से भूमि को फाड़ना (चीरना), खान खुदाकर, पत्थर फुड़ाकर अजीविका कमाना।

(६) दंत वाणिज्य—हाथी दाँत आदि का व्यापार करना।

(७) लक्ष वाणिज्य—लाख, चपड़ी आदि श्लेप वाले पदार्थों का व्यापार करना।

(८) रस वाणिज्य—मदिरादि रसों का व्यापार करना।

(९) विप वाणिज्य—संखिया, अफीम और अन्य दारु गोला जहरीले पदार्थों का व्यापार करना।

(१०) केश वाणिज्य—केश वाले जानवर भेड़, बकरी आदि के बिक्री का धन्धा करना।

(११) यन्त्रपीलन कर्म—तेल की घाणी आदि चलाने का व्यापार करना।

(१२) निलाछन कर्म—बैल, घोडे आदि की कस्सी (नपु सक बनाने) का धन्धा करना।

(१३) दवाग्निदापन कम—जगल मे आग लगाकर जीविका चलाना।

(१४) सर द्रहतडाग शोपणता—नदी, नाला व तालाब सुखाने का काम करना।

(१५) असता जन पोपणता—लडकियाँ व दासियो को रखकर वैश्यावृत्ति करना। उपर्युक्त धन्धे निंद्य कर्म हैं अत श्रावक को नही करना चाहिए।

इन धन्धा मे हिंसा सीमातीत होती है, कई पशु-पक्षी आदि पचेन्द्रिय जीवो की भी हिंसा हो जाती है। अत अधिक कर्म बन्ध होने के कारण इनका श्रावक वर्जन करता है ऐसे अन्य धन्धो मे भी जिनमे अधिक हिंसा हो उनके वजन का लक्ष्य रखना आवश्यक है। आज के यान्त्रिक युग मे इन्डस्ट्रीज के काम प्रमुख व्यवसाय का साधन माना जाता ह अत इन्हें सम्पूर्ण छोडने की स्थिति न हो तव भी उनका आवश्यक परिमाण करना श्रावक के लिए जरूरी है।

(८) **अनर्थ दड विरमण**—बहुत से पाप ससार म विना प्रयोजन ही किये जाते ह। श्रावक के लिए ऐसे विना प्रयोजन किये जाने वाली हिंसादि के कामा का वर्जन करना आवश्यक है। इन विना प्रयोजन किये जाने वाले पापा का अनथ दड कहते हैं। यह अनथ दड चार प्रकार का है, यथा—

(१) **अपध्यान चरित**—आर्त्त और रौद्रध्यान कम व ध-के मुख्य कारण ह। अत विवेकी गृहस्थ के लिए सहज मोह-भाव से होने वाले रुदन

के अतिरिक्त रिवाज रूप से रोना, धोना या किसी के साथ वैर-विरोध में उसके धन, जन की हानि करने आदि का रौद्र विचार करना एवं मारण उच्चाटन जैसे—मलिन मंत्रों का प्रयोग आदि करना, कराना पहला अपध्यान रूप इन दोषों का सेवन करना अनर्थ दण्ड है। अनर्थकारी होने से श्रावक के लिये ऐसे काम करना उचित नही है।

(२) **प्रमादा चरित**—निद्रा, विकथा, मद्य और विषय के वशीभूत भी पाप कर्म किए जाते हैं। अतः श्रावक का कर्त्तव्य है कि शारीरिक आवश्यकता के अतिरिक्त प्रमाद बढ़ावा नहीं करे। अधिक सोते रहना, नशा करना, ताश, चौपड़ आदि खेलना, सर्कस आदि देखना, इत्यादि पाप वृद्धि के साधन रूप प्रमाद का त्याग करें। ऐसे प्रमाद का सेवन करना दूसरा प्रमाद रूप अनर्थ दंड है।

(३) **हिंस्र प्रदान**—विवेकी गृहस्थ हिंसाकारी अस्त्र, शस्त्र, अग्नि तथा अफीम, संखिया आदि हिंसक सामग्री (वस्तुएँ) खास कारण के बिना उपयोग नहीं करता और न बिना विचारे किसी को अस्त्र आदि प्रदान करता है। क्योंकि अस्त्र, शस्त्रादि का प्रदान करना अनर्थ दण्ड का तीसरा प्रकार है।

(४) **पापकर्मोपदेश**—श्रावक को गृहस्थ होने के नाते हिंसा, अदत्त, कुशील आदि के काम करने पड़ते है, किन्तु वह दूसरों को पाप कर्म का उपदेश बिना कारण नहीं दे क्योंकि जिस किसी को पाप कर्म हिंसा, असत्य आदि के द्वारा धन मिलाने या नाम कमाने आदि की प्रेरणा करते रहना, इन्डस्ट्रीज (कारखाना) खोलने, शादी करने आदि के लिए प्रेरित करना अनर्थ दण्ड का चौथा प्रकार है।

(९) **सामायिक व्रत**—गृहस्थ जीवन में काम, क्रोध, लोभ आदि

आन्तरिक विकार सदा मन को घेरे रहते हैं अत उनको कम करने और मन को निर्विकार स्थिति में पहुँचाने हेतु श्रावक का लक्ष्य होता है। इसके लिए प्रतिदिन कुछ समय के लिये राग-द्वेष से हटकर मन को समत्व की ओर बढाने का अभ्यास किया जाता है। एतदर्थ विवेक श्रावक प्रतिदिन मुहूर्तभर के लिए ससार के प्रपचो को ,छोडकर, मौनस्थ दशा में राग-द्वेष से रहित रहने का नियम पालन करता है। मुहूर्त भर के इस सामायिक व्रत में वह दो करण तीन योग से सम्पूर्ण पापो का परित्याग करके शात स्थिति की साधना करता है। - प्रतिदिन विधिपूर्वक इस प्रकार की साधना से वह समत्व की ओर गति करने म समर्थ बनता है। यह श्रावक का नवाँ व्रत है।

(१०) देशावकासिक व्रत—पहले के ९ व्रतो मे आजीवन के लिए किए गए हिंसा, असत्य आदि पापो व भोगोपभोग त्याग को इसम प्रतिदिन घटाने का अभ्यास किया जाता है। इसमें घडी, दो घडी या रात्रि आदि के परिमाण से कम बन्ध के कारणभूत आश्रवो का त्याग किया जाता है। खाने-पीने एव भोग उपभोग की सामग्री का दैनिक सकोच करना भी इस व्रत का लक्ष्य है।

(११) पौषधोपवास व्रत—सद् गृहस्थ को धर्माधर्म का परिज्ञान होने से उसकी भावना पापो से उपरत रहने की रहती है। वह प्रतिदिन तीन मनोरथो के चिन्तन मे ऐसी भावना करता है कि कब मैं आरम्भ-परिग्रह का त्याग कर मुनिव्रत ग्रहण करूँगा। विविध परिस्थितियो म उलझा हुआ ससारी मानव सदा के लिए पापो का परित्याग कर व्रत की आराधना नही कर सकता। अत अभ्यास के तौर पर श्रावक मासिक कुछ दिनो के लिए आत्मपोषण की भावना से दो करण तीन योग से सम्पूर्ण पापो का त्याग कर एकान्त में पूरे रात-दिन धर्म साधना के लिए तत्पर रहता है। इसमें वह ससार का कोई कार्य नही करता। इस

प्रकार मुनिसम चर्या से अहोरात्रि निष्पाप जीवन की साधना करते हुए अपने आत्मबल को बढ़ाता और निष्पाप जीवन जीने का अभ्यास करता है। इसी को पोषधोपवास व्रत कहते हैं।

(१२) **अतिथि संविभाग व्रत**—इस व्रत में त्यागी पुरुषों को प्रतिलाभ देने का ध्यान दिलाया गया है। प्रतिदिन भोजन के समय त्यागी पुरुषों के प्रतिलाभ की भावना करना विशेष कठिन नहीं है किन्तु अहोरात्रि के आहार त्याग के पश्चात् त्यागी पुरुषों के प्रतिलाभ का संयोग मिल सके तो मेरा अहोभाग्य होगा। इस प्रकार की भावना से कुछ क्षण प्रतीक्षा में रहना विशेष कठिन होता है। यह १२वाँ व्रत है। श्रावक प्रतिदिन की तरह पौषध के पारणे के समय भी प्रतिलाभ की भावना करता है। इसमें श्रावक अपने भोजन से पूर्व केवल संत-सतियों की भावना करके ही नहीं रहता किन्तु योग मिलने पर चौदह प्रकार के निर्दोष पदार्थ देकर अपने को धन्य मानता है। आरम्भ परिग्रह के त्यागी साधु-साध्वियों को अन्नादि देकर उनके त्याग तप को परिपुष्ट करने में सहायक होना दान कर्म-निर्जरा का कारण माना गया है। गृहस्थ के लिए शेष अनुकम्पा दान, वात्सल्य दान आदि का निषेध नहीं है वे भी पुण्य लाभ के हेतु बनते है। उपर्युक्त व्रतों में १, २. ३, ४, ८, ९, १०, ११, में दो करण तीन योग से, ५, ६, ७, १०वाँ व्रत एक करण तीन योग से तथा चौथा एक करण एक योग से लिया जाता है।

उपर्युक्त बारह व्रतों का सम्यक्त्वपूर्वक पालन करना आगार धर्म अर्थात् श्रावक धर्म कहा गया है।

ग्रन्थों में श्रावक धर्म को आचार्यों ने तीन भागों मे बांट दिया है यथा—जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट। (१) कम से कम जानते हुए चलते-फिरते जीवों की हिंसा नहीं करना मद्य मांस का वर्जन करना

और पंच परमेष्ठी की उपासना करना यह श्रावक धर्म की जघन्य अर्थात् प्रथम श्रेणी मानी गई है। (२) श्रावक के लिए लज्जा, दया, गंभीरता, सज्जनता आदि श्रावक योग्य इक्कीस गुणों से युक्त होना, प्रतिदिन देव, गुरु, धर्म की भक्ति करना, अर्थात् अरिहंत प्रभु के स्मरण, ध्यान एवं आज्ञा पालन रूप भक्ति करना, निर्ग्रन्थ मुनियों की सेवा करना, शास्त्र के पठन-पाठन-श्रवण रूप स्वाध्याय करना, विषय-कषाय और इन्द्रिय के संयम का अभ्यास करना, अनशन आदि बारह प्रकार के तप में से तप करना और देश, काल, पात्र को देखकर यथा शक्ति दान करना यह श्रावक धर्म की मध्यम श्रेणी कही गई है। (३) श्रावक द्वारा सचित्त आहार का सेवन नहीं करना, एक बार एकासन से भोजन करना और ब्रह्मचर्य व्रत की अराधना करना। यह श्रावक धर्म की उत्कृष्ट श्रेणी कही गयी है। श्रावक ये तीन श्रेणियाँ अन्य प्रकार से कही गयी हैं यथा—जघन्य श्रेणी में दर्शन श्रावक, मध्यम श्रेणी में एक से लेकर बारह व्रतधारी श्रावक एवं उत्कृष्ट श्रेणी में प्रतिमाधारी श्रावक को स्थान दिया जाता है।

शिष्य—गुरुदेव! अन्य धार्मिक सम्प्रदायों के गृहस्थों के लिए वानप्रस्थ का विधान किया जाता है, क्या जैन धर्म में भी मुमुक्षु गृहस्थों के लिए गृहस्थाश्रम के पश्चात् वानप्रस्थ की व्यवस्था बतायी गई है? क्या जैन धर्म में श्रावकों के लिए ऐसी कोई व्यवस्था है? यदि है तो बताने की कृपा करें।

उत्तर देते हुए गुरुदेव ने फरमाया—श्रावक धर्म का प्रतिपादन करते हुए जैन शास्त्र में दर्शन श्रावक और व्रती श्रावक ऐसी दो विभाग किये हैं। दर्शन श्रावक—जो देव, गुरु, धर्म पर सम्यक् श्रद्धा रखते हुए वीतराग के वचनों पर विश्वास करता है किन्तु हिंसा, असत्य आदि पापों से विरति नहीं कर पाता, ऐसे सम्यक् श्रद्धा सम्पन्न शासन-सेवी को दर्शन श्रावक माना गया है। वह पंच परमेष्ठी का ही उपास्य और

वंदनीय मानता है। महाराज श्रेणिक की तरह तन-मन से शासन की भक्ति करते हुए भी व्रत-नियम नहीं कर पाता है। ये प्रथम श्रेणी के दर्शन श्रावक कहे गये है।

जो श्रावक अहिंसा, सत्य आदि बारह प्रकार के व्रतों का पालन करते हुए न्यायोपार्जित द्रव्य से जीविका चलाते हुए धर्म-साधन करते हैं, वे व्रती श्रावक कहे गये हैं। व्रती श्रावकों में आरम्भ-परिग्रह घटाकर संसार से उपरत होने की भावना रहती है। समय आने पर वे स्वयं संसार के प्रपंचों से अलग हो जाते है और एकांत स्थान में धर्म साधन करते हैं। जो पडिमाधारी के रूप से कहे जाते हैं। उपासक दशा और दशाश्रुत स्कन्ध मे ग्यारह पड़िमाओ का वर्णन किया गया है। जिज्ञासु पाठक उन सूत्रों स्वाध्याय से अपनी जिज्ञासा शान्त कर सकते है। पडिमाधारी श्रावक वानप्रस्थ के स्थान पर होकर भी कुछ अपनी विशिष्टता रखता है। इसकी साधना करने वाले सम्पूर्ण आरम्भ एवं परिग्रह के त्यागी और पूर्ण ब्रह्मचारी होते हैं। दसवीं और ग्याहरवीं पडिमाओं मे तो संयमी साधु के समान श्रावकों की चर्या होती है अतः उन्हे श्रमण भूत कहा गया है। इन दोनो प्रतिमाओं के समय श्रावक सिर का लुंचन और सजातीय घरों से भिक्षा लाकर निर्वाह करते हैं। ये स्वयं अन्न, जल को पचन-पाचन आदि का आरंभ नही करते, दूसरों से नही करवाते, और अपने लिए आरम्भकृत भोजन आदि का उपयोग भी नही करते हैं। जैन श्रावक की यह उच्चतम साधना अन्यत्र दृष्टिगोचर होना दुर्लभ है। प्रतिमा वहन करने वाले श्रावक फिर गृहवास मे नही आते है। अन्तिम मरण सुधार भी समाधि-पूर्वक पंडित मरण से करते है। यह श्रावक धर्म का संक्षिप्त परिचय दिया है विशेष उपासकदशा, दशाश्रुत स्कन्ध, उववाइय मे देखा जा सकता है।

शिष्य—गुरुदेव ! कर्माश्रव को रोकने वाले सम्यक्त्व सवर और विरति सवर का आपके द्वारा परिचय प्राप्त हुआ। विरति सवर मे साधु धर्म और श्रावक धर्म का आपने जो स्वरूप समझाया उससे वीतराग मार्ग की विशिष्टता ज्ञात हुई, किन्तु एक शका रह जाती है कि वितराग के उच्चतम धर्म सिद्धान्त मे हिंसा, असत्य, चोरी, कुशील और परिग्रह रूप बाह्य पापो के त्याग का विधान है, वैसे ही क्या ससार चक्र को बढाने वाले क्रोध, मान माया, लोभ आदि अन्तर दोषो के त्याग का विधान है। यदि है तो कृपा कर समाधान करावें।

समाधान करते हुए गुरुदेव ने कहा—जैन धर्म म हिंसा आदि पापो के त्याग की तरह कषाय विजय पर भी उतना ही जोर व लक्ष्य दिया गया है। व्यवहार मार्ग व पच्चिदा को साधना के स्थूल नियम इसलिए बताये गय ह कि सामान्य व्यक्ति उनका आसानी मे ग्रहण और पालन कर सके, किन्तु इसका यह अर्थ नही है कि कषाय विजय की ओर उपक्षा रखी गई हो। ठाणाग सूत्र के दसवें स्थान मे दशविध धम का कथन किया जाता है उसम प्रामकर अतरग वृत्तियो के शोधन का ही लक्ष्य रखा गया ह।

शिष्य—गुरुदेव ! वे दशविध धम कौन से हैं ?

उत्तर देते हुए गुरुदेव ने कहा—(१) क्षमा, (२) मुक्ति, (३) आर्जव, (४) मार्दव, (५) लाघव, (६) सत्य, (७) सयम, (८) तप, (९) त्याग और (१०) ब्रह्मचर्यवास ये दशविध धम कहे गये ह इनका सक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

(१) क्षमा—प्रतिकूल परिस्थिति मे उत्तेजित न होकर शान्त भाव से कष्ट एव कटु वचनो को सहन करना।

(२) मुक्ति—लोभ पर अकुश रखकर निर्लोभवृत्ति का अभ्यास करना।

(३) **आर्जव**—कपट को छोड़कर सरलता को धारण करना।

(४) **मार्दव**—कोमल होना, गुण और गुणीजनों के सम्मान मे सदा तत्पर रहना।

(५) **लाघव**—द्रव्य और भाव से हल्का होना।

(६) **सत्य**—भाव और भाषा में सच्चाई रखना।

(७) **संयम**—इन्द्रियों और कषाय आदि का संयम रखना।

(८) **तप**—बारह प्रकार के तप का आराधन करना।

(९) **त्याग**—द्रव्य से उपधि और भाव से कषाय का त्याग करना।

(१०) **ब्रह्मचर्यवास**—अठारह प्रकार के ब्रह्मचर्य के पालन करने में रत रहना।

इन दशभाव धर्मों की भावपूर्वक आराधना करने वाला देव-देवेन्द्र का भी पूज्य होता है। जैसा कि महामुनि नमिराज की प्रशंसा करते हुए इन्द्र ने कहा है—

अहो ते निज्जिओ कोहो, अहो माणो पराजिओ।
अहो ते निरक्किया माया, अहो लोभो वसीकओ॥ ५६॥
अहो ते अज्जवं साहु, अहो ते साहु मद्दवं।
अहो ते उत्तमा खन्ती, अहो ते मुत्ती उत्तमा॥ ५७॥ नमिपवज्जा

हे नमिराज! आश्चर्य है कि आपने क्रोध को जीत लिया, मान को पराजित कर दिया, माया को दूर कर दिया, लोभ वश में कर लिया आपकी सरलता, निरभिमानता, क्षमा और निर्लोभता श्रेष्ठ व उत्तम है।

इन्द्र द्वारा की गई नमिराज की इस प्रशंसा से पाठक सहज समझ सकते हैं कि शास्त्रकार ने कषाय विजय पर कितना लक्ष्य दिया है। हिंसा, असत्य, चोरी, कुशील आदि के त्याग में भी आचार्य कषाय विजय को भूले नहीं हैं। क्रोध, मान आदि कषाय, हिंसा, असत्य आदि पापों के कारण है। क्रोध, मान, माया, लोभ की प्रबलता से ही

व्यक्ति हिंसा, असत्य आदि पापो मे प्रवृत्त होता है। अत हिंसा, असत्य, आदि अशुभ कर्मों का त्याग करने पर, उनके कारण क्रोध आदि कषायो का वर्जन अवश्य करना होता है। इसलिए व्यवहार पक्ष मे शास्त्रकारो ने अशुभ कार्यों के त्याग का विधान किया है, उसमे कषाय को कारणभूत रूप से निषिद्ध कहा गया है। पाठक इससे शास्त्रकारो की अन्तरग त्याग की ओर लक्ष्य को सरलता से समझ सकते हैं।

शिष्य—गुरुदेव ! आपकी कृपा से सम्यक्त्व सवर और व्रत सवर का स्वरूप समझा। सवर के अन्य भेद कौन से हैं ? कितने हैं ? यह भी समझाने की कृपा करें।

उत्तर मे गुरुदेव ने कहा—सवर के मूल पाच भेदो मे सम्यक्त्व सवर, व्रत सवर को विस्तार से कह चुके हैं। ऐसे प्रमाद और कषाय का वर्जन करना। (३) अप्रमाद और (४) अकषाय रूप सवर है और (५) अशुभ योग को रोकना रूप शुभ योग सवर है। इन पाचो के अतिरिक्त सवर के बीस और सत्तावन भेद भी बताये हैं। सवर के सत्तावन भेदो मे पाच समिति, तीन गुप्ति, दशविध धर्म, और पाच चारित्र का पालन करना, बाईस परिषह और बारह भावनायें हैं कारण कि ये कर्मबध को रोकने के साधन हैं। प्रथम दशधर्मों मे शाति धर्म से साधक सहिष्णु बनता है। अनुकूल-प्रतिकूल कष्टो को प्रसन्न मन से सहन करता है अत उनको परिषह कहा गया है। वे सक्षेप मे बाईस हैं, सहन करने से उनसे होने वाला कर्मबध नही होता अत इन्हें सवर कहा गया है। बाईस परिषह के नाम इस प्रकार है —

(१) क्षुधा, (2) पिपासा, (३) शीत, (४) उष्ण, (५) दशमशक, (६) अचेल, (७) अरति, (८) स्त्री, (९) चर्या, (१०) निषद्या, (११) शय्या, (१२) आक्रोश, (१३) वध, (१४) याचना, (१५) अलाभ, (१६) रोग, (१७) तृण स्पर्श, (१८) जल्ल,

(माल) (१९) सत्कार-पुरस्कार, (२०) प्रज्ञा, (२१) अज्ञान, (२२) दर्शन-सम्यक्त्व।

शिष्य—गुरुदेव ! बारह भावना कौन सी और किस प्रकार है ?

उत्तर में गुरुदेव ने कहा—बारह भावना इस प्रकार हैं :—

(१) **अनित्य भावना**—संसार के धन, वैभव शरीर आदि सभी दृश्य पदार्थ अनित्य एवं अशाश्वत हैं, ऐसा चिन्तन करना अनित्य भावना है। जैसा कि कहा है—

"राजा राणा छत्रपति, हाथिन के असवार।
मरना सबको एक दिन, अपनी अपनी बार॥"

इसी अनित्य भावना का चिंतन करते श्रेणी चढ़कर सम्राट् भरत ने केवलज्ञान प्राप्त कर लिया।

(२) **अशरण भावना**—संसार में आधि, व्याधि, उपाधि रूप कर्म जन्य दुःखों से फँसे हुए प्राणी को पिता-पुत्र आदि कोई भी शरण रूप नहीं होता है। एक धर्म ही आत्मा के लिए शरण भूत है। संसार के धन, परिजन कोई भी मरण समय रक्षण नही कर सकते जैसा कि कहा है—

"दल बल देवी देवता, मात पिता परिवार।
मरती विरिया जीव को, कोई न राखनहार॥"

अनाथी मुनि ने इसी अशरण भावना से वैराग्य भाव की प्राप्ति की थी।

(३) **संसार भावना**—संसार कर्म बंध और जन्म, जरा, मरण, रोग, शोक आदि दुःखों का स्थान है। विषय-कषाय रूप, संसार मार्ग में चलने वाले प्राणी अनंत काल से संसार चक्र में भटक रहे हैं

अत इसमे सुख की कल्पना करना विषपान से जीवन चाहने के समान है, यह संसार भावना है, जैसा कि कहा है—

"दाम बिना निर्धन दुखी, तृष्णा वश धनवान् ।
कहू न सुख संसार में, सब जग देख्यो छान ॥"

मल्ली भगवती जी ने इसी भावना से ६ राजाओं को प्रतिबोध देकर मुनिधर्म में दीक्षित किया ।

(४) एकत्व भावना—आत्मा अकेला ही संसार में आया और अकेला ही जायेगा। संसार के पुत्र, मित्र, कलत्र आदि कोई भी संकट में साथ देने वाला नहीं है। इस प्रकार का चिन्तन करना एकत्व भावना है। जैसा कि कहा है—

"आप अकेला अवतरे, मरे अकेला होय ।
या कबहू या जीव को, साथी सगो न कोय ॥"

श्री नमिराज ऋषि ने एकत्व भावना का चिन्तन कर धन, वैभव का त्याग कर वैराग्यभाव में रमण किया ।

(५) अन्यत्व भावना—संसार के धन, वैभव, परिजन आदि सब आत्मा से भिन्न हैं, पर हैं। शास्त्र में कहा है कि—ज्ञान, दर्शनयुक्त एक आत्मा ही शाश्वत है। शेष बाह्य पदार्थ अल्पकाल के संयोग से सम्बन्धित हैं, वास्तव में वे सब मेरे से अन्य हैं—पर हैं आये हैं सो चले जायेंगे, इस प्रकार का चिन्तन करना अन्यत्व भावना है। जैसा कि कहा है—

"जहाँ देह अपनी नहीं, वहा न अपना कोय ।
घर संपत्ति पर प्रगटये, पर हैं परिजन लोय ॥"

इस प्रकार की भावना से मृगापुत्र ने सुख-दुख में एकरसता प्राप्त कर आत्मभाव में स्थिरता प्राप्त की ।

(६) **अशुचि भावना**—ऊपर से रमणीक दिखने वाला यह शरीर मल, मूत्र और रज, वीर्य, अस्थि, मज्जा, रक्त, पीप आदि अनेक मलिन पदार्थों से भरा पड़ा है। जरा सी चमड़ी को हटाकर देखें तो आपको इससे घृणा हो जायेगी, हम इसे देख नहीं सकेंगे। भला ऐसे मलिन शरीर से प्रीति कैसी? जैसा कि कहा है—

"दीपे चाम चादर मंढ़ी, हाड़ पींजरा देह।
भीतर या सम जगत में, और नहीं घिन गेह॥"

ऐसी अशुचि भावना से सनत्कुमार चक्री को शरीर से विरक्ति हो गई; वे तपस्वी हो गये।

(७) **आश्रव भावना**—मिथ्यात्व और विषय कषाय आदि आश्रव–कर्म बंध के कारण हैं, इस प्रकार कर्म बंध के कारणों का चिन्तन करते हुए विषय, कषाय और इन्द्रियों की चंचलता रोकी जाती है। बंध का कारण होने से आश्रव हेय है। जैसा कि कहा है—

"जगवासी घूमें सदा, मोह नींद के जोर।
सब लूटे नही दीसतां, कर्म चोर चहुं ओर॥"

(८) **संवर भावना**—आश्रव भाव त्यागने योग्य है, ऐसा संवर भाव बंध से बचाने वाला है। विषय, कषाय और प्रमाद निवारण संवर है, उपशम भाव रूप संवर से कर्मों का आगमन रुकता है, इस लिए ये भावनाएँ प्रवृत्ति रूप होकर भी अशुभ कर्म को रोकने से संवर है। संवर मुक्ति का प्रथम द्वार है। कहा भी है—

"मोह नीद जब उपशमे, सत्गुरु देय जगाय।
कर्म चोर आवत रुके, तब कुछ बने उपाय॥"

संवर भावना का चिंतन हरिकेशी मुनि ने किया, उनकी आत्मा कर्म भार से हल्की हो गई।

(९) निर्जरा भावना—आत्मा के साथ लगे हुए कर्मों को हल्के करने और क्षीण करने की क्रिया को निर्जरा कहते है। अनशन आदि बारह प्रकार की तपस्या कर्म के क्षीण करने का साधन है। तपस्या से आत्मा हल्की होकर शनै शनै सर्वथा कर्म मुक्त हो जाती है। कहा भी है—

"ज्ञान दीप तप तेल भर, घर शोधे भ्रम छोर ॥
या विधि बिन निकसे नही बैठे पूरब चोर ॥
पच महाव्रत सचरण, समिति पच प्रकार।
प्रबल पच इन्द्रिय विजय, धार निजरा सार॥"

तपस्या से कर्म निजरा का चिन्तन मुनि अर्जुनमाली ने किया।

(१०) लोक स्वरूप भावना—चौदह रज्जु रूप पुरुषाकृति लोक का चिन्तन करते हुए यह सोचना कि आत्मा किन-किन कारणों से कर्माधीन होकर कहा कहाँ भटकता आया है, इसमे लोक के आकार और जीवा के गति का विचार किया जाता है। यह धर्म ध्यान का एक साधन व प्रकार है। जैसा कि कहा है—

"चौदह राजू उतग नभ, लोक पुरुष सठान ॥
ता मे जीव अनादि तै, भरमत है बिनु ज्ञान ॥"

शिवराज ऋषि ने लोक स्वरूप का चिन्तन करते करते ही वैराग्य प्राप्त किय था।

(११) बोधि दुर्लभ भावना—सम्यग्ज्ञान पूर्वक बोधि का प्राप्त करना अत्यन्त कठिन है। ससार मे भटकते-भटकते अनन्त काल होने पर भी उसकी प्राप्ति नही हुई। इसके बाधक कारणा को समझ-कर उनको हटाने का यत्न करना ही बोधि दुर्लभ भावना है। जैसा कि कहा है—

"धन-जन-कंचन राज सुख, सबहि सुलभ कर जान ।
दुर्लभ है संसार में, एक यथारथ ज्ञान ॥"

ऋषभदेव के ९८ पुत्रों ने इसी भावना से आत्मा का उत्थान किया।

(१२) **धर्म भावना**—श्रुत-चारित्र रूप धर्म ही आत्म कल्याण का सही मार्ग है। जिसकी प्राप्ति अतिशय पुण्य के उदय से ही होती है। प्रमाद और कषाय से वह धर्म रत्न हाथ से चला न जाय इस दृष्टि से धर्म की महिमा और उसके साधक बाधक कारणों का चिन्तन करना धर्म भावना है। कहा भी है—

"याचे सुरतरु देय सुख, चिंतित चिन्तन रेन ।
बिन याचे बिन चिंतये, धर्म सदा सुख देन ॥"

धर्म रुचि ने धर्म भावना से ही कडुए तुम्बे का आहार कर धर्म की आराधना करली। समिति, गुप्ति, चारित्र, दशविध धर्म और परिषह की तरह बारह भावनाएँ कर्मों के नवीन संचय को रोकने वाली होने से संवर कही गई है। संवर और निर्जरा ही मुक्ति का द्वार है।



निर्जरा तत्त्व

शिष्य—गुरुदेव ! आपकी कृपा से यह समझ मे आ गया कि सवर धर्म से नये कर्मों का सचय होना रुक जाता है, किन्तु पूर्व सचित कर्मों का क्षय किस प्रकार होता है ? और कर्मों को क्षीण करने के उपाय क्या हैं ? यह समझाने की कृपा करें।

उत्तर मे गुरुदेव ने कहा—सचित कर्मों को देशत क्षीण करने की क्रिया को निर्जरा कहते हैं। उसके १२ प्रकार हैं, उनकी आराधना से सचित कर्मों का क्षय होता है। कर्म क्षय के कारण वे १२ तप इस प्रकार हैं—(१) अनशन (२) ऊनोदरी (३) भिक्षाचर्या अथवा वृत्ति सक्षेप (४) रसपरित्याग (५) काया-क्लेश (६) प्रति सलीनता (७) प्रायश्चित्त (८) विनय (९) वैय्या वृत्य (१०) स्वाध्याय (११) ध्यान (१२) व्युत्सर्ग। इन १२ प्रकार की तपस्या रूप साबुन से आत्मारूप कपडे पर लगे हुए कर्म मल को दूर (साफ) किया जाता है। सचित कर्मों के क्षय के लिए तपस्या प्रमुख साधन है।

शिष्य—गुरुदेव ! आपने सचित कर्मों के क्षय हेतु १२ प्रकार के तप बतलाये, कृपया उन १२ प्रकार की तपस्याओ को विशेष स्पष्ट कर समझाइये।

गुरुदेव ने कहा—सचित कर्मों को क्षय करने के साधन रूप बारह प्रकार की तपस्या मे प्रथम के छ वाह्य और पीछे के छ आभ्यतर

तप कहलाते हैं। बाह्य ६ तप का असर मुख्य रूप से तन पर होता है जबकि आंतरिक ६ तप मन के विकारों को तपाने का कार्य करते है। अत: वे आभ्यंतर तप कहलाते हैं। बाह्य और आभ्यंतर तप एक-दूसरे के पूरक माने गये हैं। आत्मा के साथ लगे हुए कर्म इस तप की करणी से तपा कर अलग किये जाते हैं। अतः इन बारहों को तप कहा गया है, इनका संक्षिप्त स्वरूप इस प्रकार है **अनशन**—जल के अतिरिक्त तीन आहार या जल सहित चारों आहार का जिसमें त्याग किया जाता है उसे अनशन कहा गया है। अनशन दो प्रकार का होता है (१) इत्वरिक और (२) यावत् कथिक। एक उपवास से लेकर ६ मास तक की तपस्या को इत्वरिक तप कहते हैं और आजीवन के लिए किया गया आहार त्याग यावत्-कथिक अनशन कहा जाता है। इसे संथारा भी कहते हैं। वह तीन प्रकार का होता है—(१) पादपोपगमन (२) भक्त प्रत्याख्यान और (३) इगित मरण। (१) चारों आहारों का त्याग करके वृक्ष की डाली के समान जिसमें शरीर का हलन-चलन सर्वथा बंद रख कर शरीर को निश्चेष्ट रखा जाता है उसे पादपोपगमन अनशन कहते हैं। (२) तीन या चार प्रकार के आहारों का जिसमें जीवन भर के लिए त्याग किया जाता है उसे भक्त प्रत्याख्यान अनशन कहते हैं। (३) इंगित मरण : जिसमें सीमित क्षेत्र तक हलन-चलन आदि चेष्टा का आगार रख कर आजीवन सर्वथा आहार का त्याग किया जाय उसे इंगित मरण संथारा कहते हैं।

शिष्य—बिना कारण शरीर को कष्ट देना और ६-६ मास तक निराहार रहना इसको तप के बदले काया-क्लेश क्यों नहीं कहा जाय? यह तो एक प्रकार की हिंसा है।

उत्तर देते हुए गुरु बोले—ज्ञान सहित स्वेच्छा से तप करना काया-क्लेश नहीं कहा जा सकता, क्योंकि इससे तपस्वी प्रसन्नता का अनुभव करता है। हिंसा में बलात्कार होता है किन्तु तप स्वेच्छा से

किया जाता है इसलिए यह हिंसा नहीं है। वैदिक बन्धु भी कई दिना तक अन्न, जल आदि का त्याग कर भूमि म समाधि लेते हैं पर उसे काया-कष्ट या हिंसा नहीं कहा जाता, फिर इस ज्ञान सहित निराहार तप को कष्ट या हिंसा कैसे कह सकते हैं? अर्थात् नहीं कह सकते।

शिष्य—अनशन तप तो समझ मे आया पर ऊनोदरी को तप कसे बतलाया?

गुरुदेव—अनशन नहीं कर सकने वालों के लिये कम खाना यह भी तप है, क्योंकि भूख होने पर रुचि के पदार्थ सामने होते हुए भी कम खाने मे इच्छा को रोका जाता है और इच्छा निरोध को तप कहा है। इसलिए ऊनोदरी को भी तप समझना चाहिए।

शिष्य—ऊनोदरी तप कितने प्रकार का होता है? जरा समझाने की कृपा करें।

गुरुदेव—ऊनोदरी तप के मूल दो भेद हैं, (१) द्रव्य ऊनोदरी (२) भाव ऊनोदरी। सयम धर्म की रक्षा के लिये आहार और वस्त्र पात्र आदि का परिमाण बताया गया है उसमे कुछ कम करना-घटाना द्रव्य ऊनोदरी है—जैसे भूख होते हुए भी भोजन मे कुछ ग्रास कम खाना यह आहार ऊनोदरी ह। वस्त्र पात्र आवश्यकता से कम रखना उपकरण ऊनोदरी है। द्रव्य ऊनोदरी के ८ भेद आहार के ५ उपधि के ३ भेद ह।

शिष्य—भाव ऊनोदरी क्या है, और कैसे की जाती है?

गुरुदेव—आहार और उपकरणो के समान क्रोध आदि दुर्भाव और अप्रीतिकारक सभाषण को कम या मद कर के अल्प क्रोध ६ प्रकार की हैं अल्पमान, अल्पमाया, अल्पलोभ और अल्प शब्द तथा अल्पकलह

अर्थात् अल्प कषायी होना भाव ऊनोदरी है। प्रति दिन अभ्यास से क्रोधादि कषायो को घटाना एवं मंद करना संभव है। यह भाव ऊनोदरी है। इस प्रकार ऊनोदरी में आन्तरिक तप का भी ध्यान रक्खा गया है।

शिष्य—आपने भिक्षाचारी को तीसरा तप बतलाया वह किस प्रकार है, समझाने की कृपा करें।

गुरु—आरम्भ त्यागी साधु मधुकरी से प्राप्त निर्दोष आहार आदि का ही उपयोग करते है, भिक्षा मे विविध प्रकार के अभिग्रह ग्रहण करके अनेक घरों से भिक्षा ली जाती है। वे लाभालाभ मे सतुष्ट रहते है, इसलिये भिक्षाचारी भी अपने आप मे एक तप है। साधारण व्यक्ति लाभ पाकर संतुष्ट और अलाभ मे खिन्न हो जाता है। साधु लाभालाभ में मन की समता नहीं खोता है। भिक्षाचारी तप को प्रकारातर से वृत्ति संक्षेप भी कहा गया है। अभिग्रहण धारण और वृत्ति संक्षेप के अनुसार आये हुए पदार्थों में कम करना, थोड़े पदार्थो से काम चलाने का अभ्यास, गृहस्थों के द्वारा भी सरलता से ग्रहण किया जा सकता है। इससे यथालाभ सन्तोष की वृति का अभ्यास होता है। इसके ३० भेद है।

शिष्य—गुरुदेव! रस परित्याग तप का क्या स्वरूप है और वह कितने प्रकार का है?

गुरुदेव—भोज्य पदार्थो में रस का परित्याग करना, रस परित्याग तप कहा जाता है, जैसे दूध, दही, घी मीठा आदि और प्रणीत रस का वर्जन करना रस परित्याग तप मे ग्रहण किया गया है। इसमें निविर्ई, आयबिल और अन्तप्रान्त आहार सेवन आदि का समावेश होता है। रस परित्याग तप का मुख्य दृष्टिकोण स्वाद विजय प्रतीत होता है। भोजन मे नमक, मिर्च आदि कम होने

पर नया ग्रहण नही करना भी इस तप का प्रकार होता है। इसके ९ भेद हैं।

शिष्य—गुरुदेव ! काया क्लेश तप का क्या स्वरूप है ?

गुरुदेव ने फरमाया—क्रिया करते समय होने वाले शारीरिक कष्ट को सहष सहन करना और तप के लिए वीरासन पद्मासन आदि विविध आसन और केश लुंचन करना काया क्लेश तप है। काया क्लेश तप साधक मे सहिष्णुता का गुण बढाता है, इसका अभ्यासी शारीरिक कष्ट होने पर भी खेद का अनुभव नहीं करता है।

शिष्य—गुरुदेव ! छठे प्रतिसलीनता तप का क्या स्वरूप है ? और उसके कितने भेद हैं।

उत्तर मे गुरुदेव ने कहा—इन्द्रिय और मन को वश करके रखने को प्रति सलीनता कहते हैं। ५ इन्द्रिय, ४ कषाय, ३ योग और १ निर्दोष स्थान की अपेक्षा यह तप चार प्रकार का व १३ भेद वाला कहा गया है।

(१) विषयो की ओर गतिशील इन्द्रियो को उस ओर से रोकना और गृहीत शब्दादि विषयो मे राग द्वेष नहीं करना इसे इन्द्रिय प्रतिसलीनता कहते है।

(२) क्रोध, मान, माया, लोभ रूप कषायो के उदय को रोकना और उदय प्राप्त कषायो को निष्फल करना, इसे कषाय प्रति-सलीनता कहते हैं।

(३) योग प्रतिसलीनता के तीन प्रकार हैं इनमे (१) मन की अकुशल प्रवृत्ति को रोककर कुशल कार्यों मे लगाना मन प्रति-

संलीनता है। (२) अशुभ और सावद्य वचन को छोड़कर निर्दोष भाषा बोलना वचन प्रतिसंलीनता है और (३) काया से यतनापूर्वक चलना एवं अंग-उपांगों को कछुए की तरह गोपन करके रखना काया प्रतिसंलीनता है।

(४) निर्दोष और एकान्त स्थान में जहाँ स्त्री, पुरुष नपुंसक आदि विकारी साधन नहीं हो, ऐसे स्थान का सेवन करना विविक्त शय्यासन रूप प्रतिसंलीनता का चतुर्थ भेद है।

ये ६ बाह्य तप है। इनसे शरीर और इन्द्रियों को वश में किया जाता है। बाह्य तप आभ्यतर तप का साधन है। दोनों प्रकार के तप एक-दूसरे के पूरक होते है।

इसके लिये उत्तराध्ययन सूत्र का ३०वा तप मार्ग अध्ययन और उववाई सूत्र का समवशरण प्रकरण दृष्टव्य है।

शिष्य—गुरुदेव ! क्या बाह्य तप के बिना आभ्यंतर तप नहीं हो सकता।

गुरुदेव—एकान्त रूप से तो यह नही कह सकते कि आभ्यंतर तप बाह्य तप के बिना नही हो सकता किन्तु आभ्यन्तर तप करते कोई न कोई बाह्य तप हो ही जाता है। व्यक्ति विनय, वैयावृत्य के समय भूख प्यास भूल जाता है, इन्द्रिय और योगों का सगोपन करना ही पड़ता है। इस तरह आभ्यन्तर तप के साथ बाह्य तप देखा जाता है। बाह्य तप आभ्यन्तर तप के बिना नीरस रहता है, स्वाध्याय और ध्यान के बिना अकेले बाह्य तप मे कषाय उभर आने की सम्भावना रहती है, इसलिए बाह्य तप के साथ आभ्यन्तर तप भी आवश्यक माना गया है।

शिष्य—गुरुदेव ! आजकल लम्बी तपस्या में तप का उत्सव **और प्रभावना आदि से तप का प्रदर्शन किया जाता है, इससे सब लोगों**

की जानकारी मिलती है और धर्म की प्रभावना होती है फिर भी कुछ लोग इसका विरोध करते हैं यह कहाँ तक ठीक है ? क्या ऐसा करना दोष है ?

गुरु ने समाधान करते कहा—तपस्या आत्मा कल्याण के लिए की जाती है, लोकैषणा या प्रशंसा के लिए नहीं की जाती। तपस्वी अपनी प्रशंसा को एक प्रकार का परिग्रह मानता है। रहा प्रभावना का प्रश्न तो कहना होगा कि समय-समय पर प्रभावना का तरीका बदलता रहता है, कभी लड्डू बाटने और बाजे-गाजे के आडम्बर में प्रभावना मानी जाती थी पर आज की बदली स्थिति और महगाई म समय और शक्ति का इस रूप में खच लाभकारी नहीं होता इससे तो तपस्या मे और विक्षेप होता है। इससे कितना अमूल्य समय प्रमाद मे चला जायेगा और आरम्भ की भी वृद्धि होगी। इस रूप मे खच लाभकारी नहीं है। देखिये दसवैकालिक के नव्वें अध्ययन मे तप समाधि का वर्णन करते हुए सूत्रकार ने कहा है कि साधक इस लोक के मान सम्मान या धन-वैभव-पुत्र आदि के लिए तप नहीं करे। परलोक मे दैवी सम्पदा या इन्द्रादि का पद प्राप्त हो इस भावना से भी तप करना दूषित है। यह-कीर्ति और महिमा के लिए भी तप नहीं करें। इस प्रकार इस लोक के लाभ प्राप्ति के लिए किये गये तप से तपस्वी अपने वास्तविक लाभ को खो देता है। अत शास्त्रकार ने कहा है कि केवल कर्म निजरा के लिए ही तप करना श्रेष्ठ है। चक्रवर्तियों ने तेरह बार तेले का तप किया परन्तु वह तप की गणना मे नहीं माना गया। आज की स्थिति म तपस्वी यदि शक्ति हो तो ज्ञान-दान, अभयदान और स्वधर्मी वात्सल्य मे यथा शक्ति खर्च कर सकते हैं, यही प्रभावना का स्थाई साधन है।

शिष्य—गुरुदेव ! दोनों तपो के सम्बन्ध मे महत्त्व की बात समझ मे आई। कृपा कर यह स्पष्ट करावे कि बाह्य तप का क्या

उपयोग है ? और उससे हमारे जीवन में कोई प्रत्यक्ष लाभ होता है क्या ?

गुरुदेव ने उत्तर देते हुए कहा—बाह्य तप का भी अपना महत्त्व और उपयोग है। चिकित्सकों के अनुभव से भी प्रमाणित है कि उपवास से उदर विकार और शरीर के अनेक रोग अच्छे हो जाते हैं। शारीरिक तप के प्रभाव से इन्द्रियों की अपने विषयों में चंचलता कम होती है और सहिष्णुता की वृद्धि होती है। जो लोग बाह्य तप ज्ञान पूर्वक नहीं कर पाते उन्हें भी बाह्य तप से कई प्रकार की सफलता प्राप्त होती है। इसीलिए गांधीजी ने सत्ता के सम्मुख उपवास और सत्याग्रह को महत्त्व देकर अपनाया था। इतना ध्यान रहे कि उपवास आदि तप के पहले और पीछे आहार का संयम रखना आवश्यक है, इसको न भूलें।

शिष्य—गुरुदेव ! ६ प्रकार के शारीरिक तपों का तो आपने वर्णन किया, अब मानसिक एवं वाचिक तप जो आभ्यंतर तप कहे जाते हैं, वे कितने व किस प्रकार के होते हैं ? समझाने की कृपा करें।

गुरुदेव ने कहा—आभ्यांतर तप ६ प्रकार का है, जैसे—प्रायश्चित्त, विनय, वैय्यावृत्य, स्वाध्याय, ध्यान और व्युत्सर्ग।

शिष्य—गुरुदेव ! प्रायश्चित्त किसे कहते हैं और उसके कितने भेद हैं ?

गुरुदेव—प्रायश्चित्त का अर्थ है लगे हुए दोषों की शुद्धि के लिए की जाने वाली क्रिया, वह मुख्यतः दश प्रकार का है जैसे—(१) आलोचना (२) प्रतिक्रमण (३) तदुभय (४) विवेक (५) व्युत्सर्ग (६) तप (७) छेद (८) मूल (९) अनवस्थाप्य और (१०) पारंचित। कुल भेद ५० हैं।

शिष्य—गुरुदेव ! दस प्रायश्चित्तों का अर्थ क्या है ?

गुरुदेव—(१) आलोचना प्रायश्चित्त वह है जिस दोष की शुद्धि गुरु के समक्ष कथन मात्र से ही होती हो।

(२) प्रतिक्रमण प्रायश्चित्त गमना-गमन आदि म होने वाले सूक्ष्म दोषो की शुद्धि इरियावहिय प्रतिक्रमण से अर्थात् मिच्छामि-दुक्कडम् से होती है, उसे प्रतिक्रमण योग्य प्रायश्चित्त कहते हैं।

(३) तदुभय—जिस दोष की शुद्धि के लिए आलोचना और प्रतिक्रमण दोना किए जाय, उसे तदुभय योग्य कहते ह।

(४) विवेक प्रायश्चित्त—अकल्पनीय, अशुद्ध आहार के त्याग करने से जिस की शुद्धि होती हो, उसे विवेक योग्य प्रायश्चित्त कहते हैं।

(५) व्युत्सर्ग प्रायश्चित्त—दोषो की शुद्धि हो उस कायोत्सर्ग किया जाता है, जिस दोष की कायोत्सग से शुद्धि हो उस दोष को व्युत्सर्ग योग्य कहते हैं।

(६) छेद योग्य—दीक्षा पर्याय का छेद करने से आज्ञातिक्रमण या मूलव्रत के दोषो की शुद्धि हो उसे छेद योग्य कहते हैं। जैसे रात्रि भोजन आदि।

(७) तपयोग्य—तप के द्वारा जिसकी शुद्धि हो वह तप योग्य ह। जैसे सचित्त जल आदि का स्पर्श।

(८) मूलाह—नयी दीक्षा से जिसकी शुद्धि हो उसको मूलाह कहते हैं। जैसे साधुवेश मे चतुर्थ व्रत का भग आदि।

(९) अनवस्थाप्य—गृहस्थ बनाकर जिसको नयी दीक्षा दी जाय, ऐस दोष को अनवस्थाप्याह कहते हैं।

(१०) पारंचित—अमुक समय तक साधु योग्य सम्बन्ध से अलग रख कर फिर गृहीभूत करके नयी दीक्षा से जिसकी शुद्धि हो उसे पारंचित कहते हैं। वर्तमान में अन्तिम दो प्रायश्चित्त का परम्परा से विच्छेद माना जाता है।

प्रायश्चित्त ग्रहण करते समय साधक मानापमान की अपेक्षा छोड़कर सरल भाव से अपने दोप प्रकट करता है। आज तक जिन्होंने मुझे बड़ा निर्दोप माना था वे आज क्या समझेंगे, इस बात को भूल कर गुरु के समक्ष बालक के समान अपने दोप प्रकट करना प्रायश्चित्त रूप आन्तर तप है। प्रायश्चित्त द्वारा हर कोई शुद्धि नही कर पाता, जो जाति मान, कुलवान्, विनयवान्, पापभीरु, ज्ञानवान् और दर्शनवान् होगा वही प्रायश्चित्त का अधिकारी हो सकता है।

शिष्य—गुरुदेव ! आपने प्रायश्चित्त के लिए विनयवान् होना आवश्यक बताया, वह विनय क्या है और कितने प्रकार का है ? यह भी बतलाने की कृपा करें।

गुरुदेव—विनय का अर्थ नमन और बहुमान करना ही नही, रत्नत्रयी के आराधकों के प्रति आदर भाव तथा देव, गुरु, धर्म पर श्रद्धा और उचित व्यवहार एवं आज्ञा पालन है। व्याकरण की दृष्टि से आत्मा पर लगे हुए कर्मों को अलग करने अर्थात् हटाने की क्रिया को विनय कहते है। शास्त्र में विनय के ७ भेद बतलाये है, जो इस प्रकार है—(१) ज्ञान विनय (२) दर्शन विनय (३) चारित्र विनय (४) मन विनय (५) वचन विनय (६) काय विनय और (७) लोकोपचार विनय।

शिष्य—गुरुदेव ! ज्ञान, दर्शन आदि गुण होने से दृष्टिगोचर नहीं होते फिर उनका विनय कैसे करना ?

शिष्य—गुरुदेव ! आपने मन विनय, वचन विनय और काय विनय का सही स्वरूप समझाकर बहुत कृपा की, अभी तक हम यही समझ रहे थे कि सदोष मन, वचन और काय की प्रवृत्ति से किया गया विनय अप्रशस्त और उपयोग पूर्वक निर्दोष मन, वचन आदि से किया गया विनय प्रशस्त विनय है। किन्तु अब यह बात समझ मे आई कि जो मन, वचन की प्रवृत्ति (१) सावद्य (२) सक्रिय (३) कर्कश (४) कटुक (५) निष्ठुर (६) परुस (७) हिंसाकारी (८) छेदकारी (९) भेदकारी (१०) परितापकारी (११) उपद्रवकारी और (१२) भूतोपघातिनी है, उसे छोड कर निर्दोष, अक्रिय आदि प्रशस्त रूप मे लगाना ही मन एव वचन का विनय है। ऐसे ही काया से बिना उपयोग के गमन आदि से बचना और उपयोग पूर्वक हलन, चलन आदि करना ही काय का विनय है। इस प्रकार योगो की अशुभ प्रवृत्ति को छोडकर शुभ मे जोडना निर्जरा का कारण कहा गया है। अब विनय का सातवा भेद लोकोपचार विनय कहा गया है, वह क्या और कितने प्रकार का है ? समझाने की कृपा करें।

गुरुदेव—विनय के लिए किये गये बाह्य व्यवहार को उपचार विनय कहते हैं, इसके सात भेद हैं जैसे—(१) अभ्यास वर्तिता-गुरु या बडो के समीप रहना (२) परछन्दानुवर्तिता-गुरुजनो की इच्छा का अनुसरण करना अपनी इच्छा पर नही चलना (३) कार्य हेतुक विनय करना (४) कृत-प्रतिक्रिया-उपकार के बदले मे विनय करना (५) आर्त गवेषण-परिवार मे कोई रोग से पीडित हो उसकी सम्भाल करना पूछना (६) देशकाल-ज्ञाता—देशकाल का ज्ञान होना, देशकाल के अनुसार उचित आहार आदि से विनय करना (७) सर्वार्थेषु अप्रति लोभता—बोलने चलने आदि किसी भी क्रिया मे बिना किसी के साथ टकराते हुए क्रिया करना। ये लोक व्यवहार मे दृष्टिगोचर होने वाले व्यवहार उपचार विनय कहे गये हैं।

शिष्य—गुरुदेव ! विनयवादी भी स्थान-स्थान पर विनय का उपदेश करते हैं और आप भी विनय की शिक्षा देते हैं, दोनों में क्या अन्तर है ? समझाने की कृपा करें।

गुरुदेव—तुम्हारी शंका ठीक है, विनय का उपदेश दोनों देते हैं; फिर भी दोनों के कथन मे मौलिक अन्तर है। विनयवादी की मान्यतानुसार पशु-पक्षी, माता, पिता, राजा आदि सब विनय के योग्य है। वे गुणी हैं या निर्गुणी है, यह देखने की आवश्यकता नहीं है। क्योंकि उनकी दृष्टि में सब प्राणी ईश्वर के अंश होने से विनय के पात्र है। परन्तु जैन दर्शन में ज्ञान, दर्शन, चारित्र आदि गुणों से सम्पन्न व्यक्ति को विनय योग्य माना जाता है। आगमानुसार गुणशून्य या अवगुणी वंदनीय नहीं माना जाता क्योंकि वह विनय कर्म-निर्जरा का हेतु नही होता और जैन दर्शन में विनय को कर्म-निर्जरा का हेतु कहा है। इसी प्रकार सम्यग्दर्शन आदि गुणों से रहित अन्य लोगों के प्रति किया गया विनय शुभभावमय होने से पुण्य का कारण हो सकता है, कर्म-निर्जरा का नही। लोक विनय प्रायः भय, लज्जा, स्वार्थ, लोभ, मोह और अज्ञानवश किया जाता है जबकि धार्मिक क्षेत्र का लोकोत्तर विनय एकान्त निर्जरा की भावना से किया जाता है उसमें भय, लज्जा और स्वार्थ का कोई विचार नही होता, भय आदि विचारों से किये गये विनय को शास्त्रकार तप नही मानते। यहाँ जैन दर्शन के विनय की प्रमुख विशेषता है जैसे कि कहा है—"गुणी देखकर वंदना, अवगुण देख मध्यस्थ" धर्म के स्वरूप का ज्ञाता गुणहीन और अवगुणी को अवंदनीय मानता है फिर भी उनके साथ द्वेष नहीं करता। यदि प्रेम से कहने पर भी कोई नही माने तो धर्मात्मा उसके प्रति मध्यस्थ भाव रखता है। तात्पर्य यह है कि विनयवादी गुणावगुण की अपेक्षा किये विना सबको विनय योग्य मानता है और विनय धर्म में गुणी-अवगुणी के प्रति विनय करने को निर्जरा का हेतु कहा गया है।

शिष्य—क्या साधु साध्वी के अतिरिक्त अन्य जीवों के साथ विनय नहीं होता ?

गुरुदेव—किसी भी प्राणी के साथ कष्टप्रद व्यवहार नहीं करने रूप अनाशातना विनय किया जा सकता है। जैसा कि नियुक्त मे कहा है—हित भाषण, मृदु भाषण, अल्प भाषण और विचार पूर्वक बोलना वाणी का विनय है यह सर्वत्र किया जा सकता है। ऐसे ही अकुशल विचार जो आर्त्त एव रौद्र रूप होते है उनको रोक कर शुभ विचारो की उदीरणा करना मन का विनय है, यह भी हर किसी के साथ किया जा सकता है। किसी को कष्टप्रद हो वैसा व्यवहार नही करना, सबके साथ यथोचित व्यवहार करना, यह प्रतिरूप विनय भी सर्वत्र किया जा सकता है। श्रावक को जीव मात्र के साथ मैत्री भाव से रहना है अत वह ध्यान रखता है कि उसका व्यवहार किसी के प्रति दु खदायी नही हो, यह प्राणीमात्र का विनय है।

शिष्य—भगवन् ! विनय का स्वरूप और उसके प्रकार आपने समझाये, अब वैयावृत्य तप का स्वरूप व उसके प्रकार समझाने की कृपा करें।

गुरुदेव—वैयावृत्य एक प्रकार की सेवा है जो विनयवान् ही कर पाते हैं। अत विनय के पश्चात् वैयावृत्य का उल्लेख किया गया है। वैयावृत्य का अर्थ है अशन-पान-औषध एव धर्मोपकरण का स्वधर्मियो के लिए पूर्ति करना और ग्लान वृद्ध की सेवा करना। वह दस प्रकार की है—(१) आचार्य का वैयावृत्य (२) उपाध्याय का वैयावृत्य (३) स्थविर का वैयावृत्य (४) तपस्वी का वैयावृत्य (५) ग्लान-रोगी का वैयावृत्य (६) कुल का वैयावृत्य (७) गण का वैया-वृत्य (८) सघ का वैयात्वृत्य (९) शिष्य-नव दीक्षित का वैयावृत्य व (१०) साधर्मिक का वैयावृत्य। ये दस सेवनीय हैं। इन दस की सयम

के अनुरूप सेवा दस प्रकार की वैयावृत्य है। इस प्रकार की सेवा से कर्मों की वड़ी निर्जरा होती है।

शिष्य—गुरुदेव! जिनेन्द्र भगवान ने वैयावृत्य का क्या लाभ बतलाया है?

उत्तर में गुरुदेव ने कहा—व्यवहार सूत्र में वताया है कि आचार्य, उपाध्याय आदि दस प्रकार के त्यागियों की वैयावृत्य करते हुए जीव महा निर्जरा और महान् संसार का पर्यवसान करते हैं जैसा कि कहा है—आयरिय वेयवच्चं करे माणे समणे निग्गथे महानिज्जरे महापज्जवसाणे भवति:। विशेप शुद्धि होने पर सेवक तीर्थंकर गोत्र का भी उपार्जन कर लेता है। जैसा कि कहा है—वेयावच्चेणं भते जीवे किंजणयइ, वेयावच्चेणं तित्थयरनाम गोत्तं कम्मं निवंधइ।

उत्तराध्ययन सूत्र २९/४३

भाष्यकार ने इन १० दशों की १३ प्रकार से वैयावृत्य करना वतलाया है।

शिष्य—भगवान्! आचार्य आदि १० सेवनियों की १३ प्रकार से की जाने वाली सेवा कौन सी है?

गुरुदेव—तेरह प्रकार से वैयावृत्य निम्न प्रकार से होती है:—जैसे—भत्ते, पाणेसयणासणेय, पडिलेहृपायमच्छिमद्धाणें। रायातेणें दंड-ग्गहे, य गेलण्णमत्तेम/१२५। अर्थात् (१) आहार लाना (२) जल लाना (३) शय्या-संस्तारक करना (४) आसन पाट आदि देना (५) क्षेत्र और उपकरणों का प्रतिलेखन करना (६) चरण प्रमार्जन करना (७) आँख आदि रोग में चिकित्सा करना (८) मार्ग में सहयोग करना (९) राजकीय उपसर्ग से बचाना (१०) चोरों के हमले से बचाना (संरक्षण करना) (११) वृद्ध रोगी को लकड़ी पकड़कर सहारा देना

(१२) वृद्ध रोगी के मल-मूत्रादि विसर्जन की व्यवस्था करना (१३) रोगी की उचित सम्भाल करना। इन १३ प्रकार से संवर-निर्जरा धर्म के आराधक आचार्य आदि १० प्रकार त्यागियों की सेवा करना कर्मों की निर्जरा का कारण होता है।

शिष्य—गुरुदेव! आपने आचार्य आदि की सेवा से कर्म निर्जरा का लाभ बतलाया तो दीन-दुःखी रोगी मानव और दुःख पीडित पशु-पक्षी आदि की सेवा से क्या लाभ होता है? यह भी समझाने की कृपा करें।

गुरुदेव—आचार्य उपाध्याय आदि की सेवा, लोकोत्तर वैयावृत्य रूप धर्म है। इसमें संवर-निर्जरा धर्म के आराधक त्यागियों के ज्ञानादि गुणों की पुष्टि होती है। जबकि दीन, दुःखी मानव और पशु-पक्षी अनुकम्पा के पात्र हैं। दया भाव से की गई प्राणियों की सेवा शुभयोग और अनुकम्पा भाव से पुण्य-लाभ की कारण होती है। ये प्राणी मात्र भी, सपरिग्रही है और संवर-निर्जरा धर्म के आराधक नहीं है। इनकी सेवा ज्ञानादि गुणों की पोषक नहीं होती। अतः इस प्रकार की सेवा मुख्य रूप से पुण्य लाभ की ही जनक मानी गई है। सेवा करते हुए जो विषय-कषाय का निग्रह किया गया हो वह कर्म निर्जरा का कारण बन सकता है। लौकिक सेवा अनुकम्पा प्रधान है। अतः इससे विशेष प्रकार का पुण्य लाभ हो सकता है। असंयमी गृहस्थों की सेवा को भी एकान्त पाप मानना उचित नहीं है। राजा मेघरथ ने कबूतर की रक्षा का प्रयत्न किया और सुमेरु प्रभ हाथी ने शशक की रक्षा हेतु अपना पांव ऊँचा रखा इस अनुकम्पा से निर्जरा के साथ पुण्य लाभ हुआ जिससे राजकुल में जन्म प्राप्त हुआ था। इस प्रकार लोक सेवा प्रमुख रूप से पुण्य लाभ की कारण होती है। किन्तु अहिंसा, सत्य आदि नियमों के पालक सम्यग्दृष्टि भाई-बहन इसके अपवाद

हैं। देश विरति धर्म के पालक होने से उनकी सेवा निर्जरा रूप हो सकती है, क्योंकि उससे अहिंसा आदि देश विरति संयम व गुणों को पोषण मिलता है।

शिष्य—गुरुदेव! चतुर्थ आभ्यंतर तप स्वाध्याय का स्वरूप और उसके प्रकार किस तरह कहे गये हैं? समझाने की कृपा करें।

गुरुदेव—स्वाध्याय पद में सु, आ और अध्याय ऐसे तीन शब्द हैं, जिनका सीधा अर्थ है सम्यक् श्रुत का विधिपूर्वक पठन, पाठन और मनन करना। जिन्होंने राग-द्वेष कामादि दोषों पर पूर्ण विजय प्राप्त कर लिया है ऐसे—सत्पुरुषों की निर्दोष वाणी मानव के मन के मल को धोने वाली और सत्यार्थ का प्रकाश करने वाली है। ऐसी वाणी का अध्ययन मानव मन की सुप्त चेतना को जागृत कर आत्म-गुणों को विकसित करता है, अतः ऐसे शास्त्रों का पठन-पाठन स्वाध्याय कहा गया है।

शिष्य—गुरुदेव! स्वाध्याय योग्य सम्यक् श्रुत मुख्य रूप से कितने और कौन से हैं?

गुरुदेव—पूर्ण ज्ञान और दर्शन के धारक वीतराग पुरुषों द्वारा प्रतिपादित शास्त्र सम्यक् श्रुत हैं, जो आचारांग आदि ११ हैं। जैसे—(१) आचारांग (२) सूत्रकृतांग (३) स्थानांग (४) समवायांग (५) व्याख्या प्रज्ञप्ति (६) उपासक दशा (७) अन्तकृत दशा (८) ज्ञाता धर्म कथा (९) अनुत्तरोपपातिक (१०) प्रश्न व्याकरण और (११) विपाक श्रुत। ये मुख्य रूप से सम्यक् श्रुत हैं, इनका मूल सूत्र रूप से, हिन्दी, गुजराती, महाराष्ट्री आदि अर्थ रूप से और मूल के साथ अर्थ-तदुभय रूप से अध्ययन किया जाता है। इनके अनुकूल व्याख्यान आदि रूप से जो ग्रन्थ आगम

वाणी को पुष्ट करने वाले ह वे स्वाध्याय मे पढे जा सकते है। स्वाध्याय स्व-पर प्रकाशक होने से परम तप ह। इसलिए कहा है कि—स्वाध्याया-त्मा प्रमद । स्वाध्याय से प्रमाद मत करो।

शिष्य—गुरुदेव ! स्वाध्याय कितने प्रकार का है ?

गुरुदेव—स्वाध्याय पाँच प्रकार का कहा गया है, जो इस प्रकार है (१) वाचना–मूल या अथ रूप से श्रुत का वाचन करना (२) पृच्छा-सुने हुए विषय की स्पष्टता के लिए पृच्छा करना (३) परिवतना–वाचना म पढे हुए श्रुत की पुनरावृत्ति करना (४) अनुप्रेक्षा–जीवादि तत्त्वो के विषय मे चिन्तन-मनन करना (५) धर्मकथा–जीवादि पदाथ और पुण्य-पाप, बध-मोक्ष आदि को हेतु पूवक समझाकर आत्म-भाव को जागृत करने वाली, (i) अक्षेपिणी (ii) विक्षेपिणी आदि धम कथा करना।

शिष्य—भगवन् ! स्वाध्याय क्यो किया जाता है ? इसका क्या फल है ?

गुरुदेव—दशवैकालिक सूत्र मे अध्ययन करने के चार कारण बतलाये हैं, जैसे—(१) श्रुत के अध्ययन से तत्त्वातत्त्व का ज्ञान होगा इसलिए पढना (२) अध्ययन से चित्त एकाग्र हागा इसलिए पढना (३) अपनी आत्मा को धर्म म स्थिर कर सकूँगा इसलिए पढना (४) स्वय स्थिर होकर दूसर का भी धम म स्थिर कर सकूगा इसलिए श्रुत का अध्ययन करना। दशवै० ९ उ० ४। सम्यक् श्रुत के पठन-पाठन वाचना के स्थानाग सूत्र मे भी लाभ बतलाये ह।

शिष्य—गुरुदेव ! स्थानाग सूत्र मे श्रुत वाचना के क्या लाभ बतलाये हैं ?

गुरुदेव—श्रुत के अध्ययन की (श्रुत की) वाचना देने से पाँच लाभ होते हैं, जैसे—(१) वाचना देने से शिष्यों मे श्रुत ज्ञान का संग्रह होता है (२) वाचना देने से शिष्यों का उपकार होता है वे तप संयम की आराधना में समर्थ होते है (३) वाचना देने से कर्मों की निर्जरा होती है (४) वाचना देने से अपना श्रुत ज्ञान स्पष्ट और विकसित होता है (५) वाचना देने की परम्परा चालू रहने से शास्त्र रक्षित रहेंगे, इनका विच्छेद नहीं होता है। इस प्रकार शास्त्र वाचना से श्रुत की भक्ति के साथ ज्ञान का व्यापक प्रचार होता हे।

(स्था. ५/३/८१)

शिष्य—भगवन् ! वाचना देने के समान श्रुत की वाचना लेने के लाभ भी बतलाइये।

गुरुदेव—श्रुत ज्ञान की वाचना करने के पाँच लाभ बताये गये है जैसे कि—(१) तत्त्वों का सम्यग् ज्ञान प्राप्त करने के लिए वाचन लेना (२) श्रद्धा की दृढ़ता हो इसलिए वाचन लेना (३) आचार धर्म का ज्ञान कर चारित्र का निर्दोष पालन किया जा सके इसलिए श्रुत का वाचन लेना (४) मतभेदों के विवाद से मुक्त होने एवं दूसरो को मिथ्या मार्ग से हटाने के लिये वाचन लेना (५) द्रव्य, गुण और पर्याय के स्वरूप को यथार्थ जानने के लिये श्रुत का वाचन करना—(स्था० ५/३/८१)। वाचना देने और लेने के इन लाभों के अतिरिक्त स्वाध्याय से ज्ञानावरणीय कर्म का भी क्षय होता है, जैसा कि कहा है—सज्झाएणं नाणावरणिज्जं कम्मं खवेइ—(उत्तराध्ययन २९/१८)। स्वाध्याय करने से ज्ञानावरणीय कर्म का क्षय किया जाता है। इसीलिये श्रमणों की दिन-रात्रि चर्या में, ४ पहर की स्वाध्याय निर्देश कर स्वाध्याय को ही मुख्य स्थान दिया गया है—

उत्तराध्यायन सूत्र २६/१२/१८ मे ऐसा विधान है।

१२ पढम पोरिसि सज्झाय, वीय झाण झियायई तइयाए भिक्खायरिय, पुर्णोचउत्थीइ सज्झाय,।

१८ पढम पोरिसि सज्झाय, बीय झाण झियायई तइयाए निद्दमोक्खतु, चउत्थी भुज्जो वि सज्झाय।

शिष्य—भगवन्! आपने कहा स्वाध्याय से मन की एकाग्रता होती है यह समझ मे आया अब यह बतलाइये कि ध्यान क्या और उसके कितने प्रकार हैं?

गुरुदेव—ध्यान का अर्थ है किसी एक चिन्तन पर मन का लीन हो जाना, वह ध्यान चार प्रकार का है जैसे—(१) आर्तध्यान (२) रौद्रध्यान (३) धर्मध्यान (४) शुक्ल ध्यान।

शिष्य—भगवन्! आपने ध्यान के चार प्रकार बतलाये, उन्हें स्पष्ट करने की कृपा करें।

गुरुदेव—चार प्रकार के ध्यानो मे पहले दो ध्यान मोह के उदय से सहज होते ह, बध के कारण होने से वे त्याज्य ह, पीछे के दो ध्यान कम के क्षयोपम से होते हैं, उनके लिए पुरुषार्थ किया जाता है। पहले के दो अशुभ ध्याना को दूर कर शुभ ध्यान मे लीन होना ही तप ह। यह चिरकाल के सचित कर्मों को क्षण भर मे नष्ट करने वाला है। पहले के आर्त और रौद्र ध्यान मे नर, नारक, देव तथा तिर्यंच चारो गति के जीव प्रभावित ह।

(१) **आर्त ध्यान**— शब्दादि विषय और भोग सामग्री के अजन, रक्षण और सवर्धन मे चिन्तित रहना तथा पुन मित्र कलत्र आदि परिजन और धन वैभव की चिन्ता करना आत ध्यान है। जोर मे क्रदन करना चिल्लाना, शोच करना, आसू गिराना आदि आर्त ध्यान के परिचायक चिह्नहैं।

(२) **रौद्र ध्यान**—स्व और पर के लिए दुःखदायी तथा अहित-कारी विचारों में डूबा रहना, मोह और अज्ञान के वश अपने व पर की हत्या करना, लूटना, धोखा देना और विरोधी को जड़-मूल से उखाड़ फेंकने के विचारों में लीन रहना रौद्र ध्यान है। हिंसा करना, झूठी बातें बनाना आदि रौद्र ध्यान के परिचायक चिह्न है। इनमें आर्त ध्यान राग और मोह की प्रधानता वाला है। रौद्र ध्यान में क्रोध व द्वेष की प्रधानता रहती है। प्रत्येक के चार प्रकार और चार लक्षण यों आठ-आठ भेद किये गये हैं।

ये दोनों ध्यान कर्म वन्ध के कारण हैं इनको छोड़कर शुभ ध्यान मे लगना ही तप है। शुभ ध्यान दो प्रकार के है। (१) धर्म ध्यान और (२) शुक्ल ध्यान।

धर्म ध्यान—देव, गुरु, धर्म की भक्ति और आत्मा-परमात्मा के स्वरूप चिन्तन में लीन होना तथा संसार के पदार्थों को अनित्य अशाश्वत और निस्सार समझ कर दश विध धर्म के चिन्तन मे मन को स्थिर करना धर्म ध्यान कहा जाता है।

धर्म ध्यान के चार प्रकार चार लक्षण, चार आलंवन और चार अनुप्रेक्षा यों सोलह भेद किये गये है।

शिष्य—गुरुदेव ! धर्म ध्यान के आधार (पाये) रूप चार प्रकार कौन से हैं?

गुरुदेव—धर्म ध्यान रूप प्रासाद का प्रथय चरण आज्ञा-विचय है। वीतराग देव की आज्ञा का चिन्तन करना और यह निश्चित करना कि वितराग की आज्ञा ही भवसागर से पार करने वाली एक अछिद्र नौका है। इसके अतिरिक्त अर्थ कथा, देश कथा आदि आत्मा के जन्म-मरण के चक्र मे भटकाने वाली है। प्रासाद का दूसरा चरण अपाय

विचय है। आज्ञा के प्रतिकूल चलने वाले जीव के काम क्रोध लोभादि दोषों की वृद्धि होती है, जिससे जीव किंकर्त्तव्य विमूढ होकर अपना भान भूल जाता है। अत मुमुक्षु आत्मा को सदा इन दोषों से बचे रहना चाहिए।

प्रासाद का तीसरा चरण विपाक-विचय है। दोष दुख के कारण है। काम, क्रोध, लोभादि दोषों के कारण ही प्राणी को कर्माधीन होकर विविध गतियों मे भटकना पडता है। दोषों के अशुभ फल को जानकर अपने मन को उनसे अलग करना विपाक-विचय नाम का तीसरा चरण है।

प्रमाद का चौथा चरण सस्थान-विचय है। कर्म के वशीभूत प्राणी नानाविध गतियों में किस रूप मे और कहाँ-कहाँ कर्म फल भोगा करता है। यह जानकर लोक के सस्थान (स्वरूप) का विचार करना सस्थान विचय कहा जाता है। सस्थान-विचय मे ऊर्ध्व लोक, मध्य लोक और अधो लोक मे जीव किस तरह, कहाँ तथा कैसे कर्म फल अनुभव करता है यह जाना जाता है। अत धर्म ध्यान का यह चौथा चरण है।

शिष्य—किस साधक की धर्म ध्यान के प्रति रुचि है, इसे समझने का क्या लक्षण है ?

गुरुदेव—धर्म ध्यान के चार लक्षण बताये गये हैं, जो इस प्रकार है—

(१) आज्ञा रुचि—श्रुत चारित्र धर्म रूप वीतराग की आज्ञा पर हार्दिक प्रीति (रुचि) होना।

(२) निसर्ग रुचि—जाति स्मरण आदि ज्ञान से, बिना उपदेश के ही धर्म पर रुचि होना।

(३) उपदेश रुचि—सद्‌गुरु के उपदेश सुनने में या उपदेश सुनने से पारमार्थिक तत्त्वों पर रुचि होना।

(४) सूत्र रुचि—जिनेन्द्र देव प्रणीत आगम वाणी के पठन-पाठन में रुचि होना।

इन चार प्रकार की रुचियों से पहचाना जा सकता है कि मानव धर्म ध्यान का रसिक है।

शिष्य—गुरुदेव ! धर्म-ध्यान रूप प्रासाद पर आरोहरण करने के साधन कौन से हैं ?

गुरुदेव—धर्म ध्यान के प्रासाद पर आरोहण करने के चार आलम्बन बताये गये हैं। जैसे—(१) वाचना—वीतराग वाणी का पठन-पाठन और वाचना करना (२) पृच्छा—तत्वार्थ के प्रश्नोत्तर करना (३) परिवर्तना—पठित ज्ञान का पुनः-पुनः परावर्तन करना और (४) धर्मकथा राग-द्वेष से मुक्ति पाने की कथा या दश प्रकार के धर्मों का कथन करना। इन चार आलम्बनों से मुमुक्षु धर्म ध्यान के प्रासाद पर सरलता से आरोहण कर पाता है।

शिष्य—गुरुदेव ! धर्म ध्यानी का चिन्तन कैसा होना चाहिए ?

गुरुदेव—धर्म ध्यान की चार अनुप्रेक्षाएँ कही गई हैं। धर्म ध्यानी का इनके आधार पर चिन्तन होता है वह इस प्रकार है—

(१) **अनित्य भावना**—दृश्यमान जगत् के नाना प्रकार के चित्ताकर्षक पदार्थों की अनित्यता और नश्वरता का चिन्तन करना।

(२) **अशरण भावना**—(इसमें सोचा जाता है कि) पुत्र, मित्र, कलत्र आदि प्रेमीजन और धन-वैभव आदि सम्पदा इनमें से दुःख के समय आत्मा के कोई भी शरण भूत (रक्षक) होने वाले नहीं है। एक मात्र धर्म ही शरणभूत है।

(३) एकत्व भावना—आत्मा एक है अकेला ही आया और अकेला ही जाने वाला है। ससार के धन, वैभव, पुत्र, मित्र आदि कोई उसके साथी नही होते। क्योंकि आत्मा नित्य है और दृश्यमान जगत् अनित्य है। आत्मा ज्ञान, दशन युक्त है और दृश्य पदाथ जड पर है। आत्मा ही कम का कर्ता और भोक्ता है। अत कष्ट मे बाह्य पदार्थों की अपेक्षा करना या उनसे आशा रखना अज्ञान और भूल ही कहा जा सकता है।

(४) ससार भावना—धर्म ध्यान की चौथी अनुप्रेक्षा ससार भावना है। ससार दोप और दु खो का घर है, राग, द्वेप आदि दोप और जन्म, जरा, मरण, रोग, शोक आदि दु खो का वह उत्पत्ति स्थान है। विपय-कपाय के अधीन बना हुआ प्राणी चतुर्गतिक ससार मे अनन्त काल से भटकता हुआ भी अज्ञानवश भोगो म सुख मानता और श्वान क अस्थि चवण की तरह इन्द्रिय सुखो मे अपनी शक्ति को नष्ट कर आनन्द मानता है। कल्याणार्थी मानव ससार के वास्तविक स्वरूप को समझ कर कमल पत्रवत् भौतिक सुखो स अलिप्त रहता है।

शिष्य—भगवन् ! शुक्ल ध्यान क्या है ? कब किया जाता है ? और उसके कितने भेद हैं ?

गुरुदेव—कपायो का उपशम या क्षीण कर आत्मा की विशेप शुद्धि के लिए चित्त को प्रशान्त सागर की तरह शान्त और स्थिरता मे लीन कर लेता है इसी का नाम शुक्ल ध्यान है। साधक धर्म ध्यान से राग-द्वेप आदि दोपो को क्षीण कर शुक्ल ध्यान पर आरूढ होता है। तथा सप्तम अप्रमत्त गुणस्थान को पार कर जब आत्मा निवृत्ति बादर अष्टम गुणस्थान म बढता है, तब कपाय मल को उपशान्त या क्षीण करते हुए शुक्ल ध्यान मे प्रवेश किया जाता है। इसके चार प्रकार हैं

(१) पृथक्त्व-वितर्क सविचारी (२) एकत्व वितर्क-अविचारी (३) सूक्ष्म क्रिया अनिवृत्ति और (४) समुच्छिन्न क्रिया अप्रतिपाती।

(१) **पृथक्त्व वितर्क सविचारी**—जब कोई पूर्व-धर मुनि अपने पूर्व ज्ञान के आधार पर एक द्रव्य में उत्पाद, व्यय और स्थिति रूप विविध पर्यायों का अलग-अलग चिन्तन करता है, साधक की उस मनःस्थिति को पृथक्त्व वितर्क सविचारी कहते है।

(२) **एकत्व वितर्क अविचारी**—जब साधक मन को एकाग्र करके किसी एक द्रव्य या पर्याय विशेष पर स्थिर चित्त होता है तब एकत्व वितर्क अविचारी दूसरा चरण होता है।

(३) **सूक्ष्म क्रिया अनिवृत्ति**—जब वीतराग दशा प्राप्त केवली के मात्र श्वासादि रूप से सूक्ष्म काय योग की प्रवृति चालू रहती है तब सूक्ष्म क्रिया अनिवृत्ति ध्यान का तीसरा चरण होता है। जो १३वें गुणस्थान के अन्तिम समय में होता है।

(४) **समुच्छिन्न क्रिया अप्रतिपाती**– जब मन और वाणी की तरह काय की सूक्ष्म क्रिया भी बन्द हो जाती है तब शुक्ल ध्यान का चौथा चरण समुच्छिन्न क्रिया अप्रतिपाती होता है, यह चरण शैलेशी दशा प्राप्त केवली को योग-निरोध की स्थिति में १४वें गुणस्थान में होता है।

शुक्ल ध्यान के चार चरणों में पहले चरण में तीन शुभ योग विद्यमान रहते हैं। दूसरे चरण में तीन योग में से कोई एक योग होता है। तीसरे चरण में मात्र एक काय योग ही शेष रहता है। इसमें मनोयोग और वाग्योग का सम्पूर्ण निरोध हो जाता है। तथा चतुर्थ चरण अयोगी दशा प्राप्त केवली को ही होता है।

शिष्य—गुरुदेव ! धर्म ध्यान की तरह शुक्ल ध्यान के भी कुछ लक्षण होगे । उन्हें समझाने की कृपा करें ।

गुरुदेव—शुक्ल ध्यान के भी धर्म ध्यान की तरह चार लक्षण है । (१) अव्यहे—देव, मनुष्यादि के उपसर्गों से व्यथित नहीं होना तथा पीडा का अनुभव नहीं करना शुक्ल ध्यान का पहला लक्षण है । (२) असम्मोहे—देव आदि की ऋद्धि व शास्त्रीय गूढ विषया मे सम्मोह प्राप्त नहीं होना शुक्ल ध्यान का दूसरा लक्षण है । (३) विवेक—ससार के विविध सयोग और देह तक से आत्मा की भिन्नता का भान होना यह शुक्ल ध्यान का तीसरा लक्षण है । (४) व्युत्सर्ग—देह और वाह्य उपकरणो का निसग भाव से ध्यानी त्याग कर देता है । यह शुक्ल ध्यान का चौथा लक्षण है ।

शिष्य—गुरुदेव ! शुक्ल ध्यान के चरण व लक्षण की जानकारी प्राप्त हुई । अब शुक्ल ध्यान के आलम्बन कितने हैं ? समझाने की कृपा करें ।

गुरुदेव—शुक्ल ध्यान के चार आलम्बन हैं—(१) क्षमा (२) आर्जव (३) मार्दव और (४) मुक्ति । ध्यान की स्थिरता मे जो सहायक हो उसे आलम्बन कहते हैं ।

(१) क्षमा—पहला आलम्बन क्षमा है । शुक्ल ध्यान की साधना से साधक की कषायें सूक्ष्म सूक्ष्मतम बन जाती हैं । ध्यानी का पहला आलम्बन शांति है, कैसी भी प्रतिकूल परिस्थिति हो उसमे ध्यानी विचलित नहीं होता । कषाय की मदता से सुख-दुःख मे समत्व की स्थिति बनाये रखना यह उसका पहला आलम्बन है ।

(२) आर्जव—शुक्ल ध्यान की साधना मे दूसरा आलम्बन आर्जव होता है । ध्यानी मन, वाणी और व्यवहार मे एक रस होता है,

वह अपने साध्य की ओर सरल दृष्टि से बढ़ता है, उसकी ऋजुता दूसरा आलम्बन है।

(३) अहंकार को क्षीण कर देने से मार्दव गुण प्रकट होता है। अकषाय भाव की ओर प्रगति करने के लिए यह शुक्ल ध्यानी का तीसरा आलम्बन होता है।

(४) संग्रह भाव और ममता की क्षीणता से साधक लोभ से मुक्ति प्राप्त करता है यह ध्यानी का चौथा आलम्बन है।

शिष्य—गुरुदेव ! आलम्बन की तरह शुक्ल ध्यान की अनुप्रेक्षाएं भी समझाने की कृपा करें।

गुरुदेव—शुक्ल ध्यान की पहली अनन्तः वर्तितानुप्रेक्षा—पहली अनुप्रेक्षा में शुक्ल ध्यानी जन्म-मरण की अनन्त परम्परा का चिन्तन करता है। प्रत्येक वस्तु की त्रिकालवर्ती अनन्त पर्यायों का चिन्तन अनन्त वर्तितानुप्रेक्षा है।

(२) विपरिणामानुप्रेक्षा—संसार के पदार्थों के प्रतिक्षण विविध रूपों में परिणमन का चिन्तन करना विपरिणामानुप्रेक्षा है।

(३) अशुभानुप्रेक्षा—संसार कर्म का स्थान है संसार के पौद्गलिक सुख क्षण स्थायी होकर अन्त में दुःख में परिणत होते हैं। अतः यहां का सुख भी अशुभ है इस प्रकार संसार की अशुभता का चिन्तन करना अशुभानुप्रेक्षा है।

(४) अपायानुप्रेक्षा—अशुभ से प्रीति करना दोष और दुःख का कारण है, इस प्रकार का चिन्तन अपायानुप्रेक्षा है।

शिष्य—भगवन् ! ध्यानी बाह्य वस्तुओं से उपरत रहता है, अतः ध्यान के बाद छट्ठा तप व्युत्सर्ग कहा है, व्युत्सर्ग का स्वरूप और उसके भेद समझाने की कृपा करें।

गुरुदेव—पौद्गलिक वस्तुओ के त्याग को व्युत्सर्ग कहते हैं उसके मुख्य २ भेद हैं—द्रव्य व्युत्सग और भाव व्युत्सर्ग। द्रव्य व्युत्सग से वाह्य वस्तुओ का त्याग किया जाता ह जो चार प्रकार का है। (१) शरीर व्युत्सर्ग (२) गण व्युत्सर्ग—जिनकल्प आदि के लिए गच्छ का त्याग करना (३) उपधि व्युत्सर्ग और (४) भक्त पान का त्याग। इन चारो का निर्मम भाव से त्याग करना द्रव्य व्युत्सग कहा गया है।

शिष्य—भगवन ! भाव व्युत्सर्ग क्या है ?

गुरुदेव—भाव व्युत्सर्ग तीन प्रकार का है। जैसे—(१) कषाय व्युत्सर्ग, (२) ससार त्याग, (३) कम व्युत्सग। (१) क्रोध, मान, माया और लोभ आदि का त्याग करना कषाय व्युत्सर्ग है। (२) कषाय के त्याग से ससार वृक्ष का सिंचन नहीं होता। फलस्वरूप भव-भ्रमण रुक जाता है, यह ससार त्याग रूप व्युत्सर्ग है। (३) ससार का त्याग कर्म छूटने पर होता है अत तीसरा कर्म व्युत्सग कहा गया है। व्युत्सग तप म वाह्य और आभ्यातर दोनो प्रकार के त्याग का समावेश होता है फिर भी आन्तर त्याग की प्रधानता से यह अन्तिम आन्तरिक तप माना गया है।

आन्तरिक तप मन के विकार को नष्ट करने का काम करता है, अत यह विशिष्ट निर्जरा का साधन है। हर मुमुक्षु को वाह्य तप के साथ आतर तप का भी अवश्य ध्यान रखना चाहिये।

निर्जरा बन्धे हुए कर्मों की होती है, अत निजरा के पश्चात् बन्ध को समझना आवश्यक मानकर आगे के प्रकरण मे बन्ध तत्त्व का निरूपण करते हैं।

शिष्य—भगवन् ! बन्ध क्या है ?

गुरुदेव—जीव के साथ कम पुद्गलो का क्षीर नीरवत् जो सम्बन्ध होता है, इसे बन्ध कहते हैं।

शिष्य—भगवन् ! जीव के साथ कर्म पुद्गलों का सम्बन्ध कैसे होता है ?

गुरुदेव—जीव और कर्म के सम्बन्ध को समझने के लिए भगवती सूत्र शतक १३ का एक रूपक द्रष्टव्य है, जैसे कोई दरिया पानी से परिपूर्ण भरा है उसमे दो नौकाएं छोड़ी गई, एक छिद्र वाली है और दूसरी अछिद्र, छिद्र रहित है। उनमें छिद्र वाली नौका दरिया में धीरे-धीरे पानी से भर जाती है। ऐसे ही संसार रूप दरिया कर्म परमाणु रूप जल से भरा पड़ा है। उसमें जीव रूप नौका राग, द्वेष एवं इच्छा के छिद्र वाली होने से कर्म जल से भर जाती है, इस प्रकार नौका की तरह जीव कर्म जल से व्याप्त हो जाता है। यही जीव के साथ कर्म पुद्गलों के सम्बन्ध की प्रक्रिया है। दूसरी नौका जिसका छिद्र बन्द कर दिया गया है उससे जब संचित जल निकाल दिया जाता है, तब जल रहित नौका दरिया के जल पर तैरने लगती है। इसी प्रकार जीव रूप नौका के इच्छा के छिद्र सर्वथा बन्द कर संचित कर्मों को तपस्या से सुखा कर नष्ट कर दिया जाता है, तब जीव भी कर्म रहित होकर कर्म पुद्गलों पर तैरते रहता है, यही बन्ध मुक्ति का स्वरूप है।

शिष्य—गुरुवर ! कर्म बन्ध के मुख्य कारण कितने हैं ?

गुरुदेव—कर्म बन्ध के मुख्य हेतु २ हैं—योग और कषाय। तत्त्वार्थ सूत्र में बन्ध के ५ हेतु कहे गये है जो इस प्रकार है (१) मिथ्यात्त्व, (२) अविरति, (३) प्रमाद, (४) कषाय और (५) योग (अशुभ योग)।

शिष्य—भगवन् ! कर्म बन्ध के कितने प्रकार हैं ?

गुरुदेव—कर्म का बन्ध चार प्रकार से होता है,

जैसे—(१) प्रकृति वन्ध, (2) स्थिति वन्ध, (३) अनुभाग वन्ध और (४) प्रदेश वन्ध समं० ।४।

शिष्य—प्रकृति वन्ध आदि का स्वरूप क्या है ? व मूल प्रकृतियां कितनी हैं ?

गुरुदेव—वधने वाले कम परमाणुओ मे भिन्न-भिन्न शक्तियो स्वभावो का पैदा हाना प्रकृति वन्ध है, जो मूल आठ हैं और उत्तर भेदो के रूप मे १८८ या १५८ होती हैं।

शिष्य—कर्म की मूल आठ प्रकृतियां कौन सी हैं ?

गुरुदेव—कर्म की आठ मूल प्रकृतियां इस प्रकार हैं—

(१) ज्ञानावरणीय—इसका काम आत्मा के ज्ञान गुण को आच्छादित करना है।

(२) दर्शनावरणीय—आत्मा के दशन गुण को रोकने वाली प्रकृति को दशनावरणीय कहते हैं।

(३) वेदनीय—जिस प्रकृति से साता-असाता की प्राप्ति हो, उसे वेदनीय कहते ह।

(४) मोहनीय—जो आत्मा को सत्-असत् का भान भुलादे, उसे मोहनीय कहते हैं।

(५) आयुकम—जो आत्मा को शरीर के वन्धन मे रोका रक्खे उसे आयु कम कहते है।

(६) नाम कम—जिस प्रकृति से आत्मा गति, जाति, शरीर, सस्थान आदि पर्यायो को प्राप्त करे, उसे नाम कर्म कहते हैं।

(७) गोत्र कम—जिस कर्म प्रकृति से जीव ऊँच, नीच समझा जावे, उसे गोत्र कम कहते हैं।

(८) अन्तराय—जो कर्म आत्मा के दान, लाभ, भोग, उपभोग और तप आदि कार्य में विघ्न उत्पन्न करे, उसे अन्तराय कर्म कहते है।

ये आठ मूल प्रकृतियाँ और इनके उत्तर भेद १४८ या १५८ होते हैं इसे प्रकृति बन्ध कहते हैं। कर्म परमाणुओं में ज्ञान गुण को रोकना आदि स्वभाव का होना प्रकृतिबन्ध है, प्रकृति की काल मर्यादा को स्थिति बन्ध कहते हैं। वन्धे हुए कर्मों में न्यूनाधिक फल देने की शक्ति को अनुभाग बन्ध कहते है और जीव के साथ न्यूनाधिक कर्म पुद्गलों का सम्बन्ध होना प्रदेश बन्ध है। इसे सरलता से समझने के लिए एक दृष्टान्त देखिये। जैसे—किसी ने औषधि मिश्रित मोदक बनाया उसमें वातहरण आदि गुण उसकी प्रकृति है, मास या १५ दिन जब तक वह औषधि अपना काम करे वह काल स्थिति वन्ध है। दवा की मात्रा के प्रमाण से उसमें कड़वेपन की मंदता, तीव्रता का होना यह रस है और मोदक का छोटे-वड़े परिमाण में होना यह प्रदेश वन्ध है। ऐसे ही कर्म परमाणुओं में ज्ञान आदि पर आवरण करने का स्वभाव यह प्रकृतिबन्ध है। कर्मों का अपने स्वभाव मे रहने का काल-प्रमाण स्थिति बन्ध और शुभाशुभ फल की तीव्रता, मदता यह रस बन्ध है—तथा कर्म दलिकों का न्यूनाधिक परिमाण मे होना इसको प्रदेश बन्ध कहते हैं।

प्रकृति और प्रदेश का बन्ध योग से होता है, जबकि रस और स्थिति का बन्ध कषाय से होता है। जैसा कि कहा है–मिथ्यादर्शनाऽविरति प्रमाद कषाय योगाः बन्ध हेतवः/८/१/तत्त्वा.।

शिष्य—गुरुदेव! कर्म के सम्बन्ध में कुछ कर्मों को घाती और कुछ कर्मों को अघाती कहा जाता है, इसका क्या रहस्य है?

गुरुदेव ने उत्तर मे फरमाया—बन्ध की अपेक्षा सभी कर्म समान

रूप से आत्मा को बन्धन मे डालने वाले हैं। फिर भी कार्य की अपेक्षा इनमे अन्तर माना गया है। कुछ कम ऐसे हैं जो शरीर और इन्द्रियो पर प्रभावकारी होते हैं, वे आत्मा के मूल स्वभाव मे कोई हानि नही पहुचाते। किन्तु कुछ कर्मों का स्वभाव ऐसा है कि वे आत्मा के गुणो को प्रकट नही होने देते ह। अत इनके दो विभाग कर बताया गया है कि जो आत्मा के ज्ञान, दर्शन, आदि गुणो की हानि करें वे घाती कर्म है और जो शरीर के आकार प्रकार, सुख-दु ख आदि के रूप मे ही अपना असर बताने वाले हैं उनको अघाती कर्म कहते हैं।

शिष्य—गुरुदेव! घाती कर्म कितने और कौन-कौन से हैं? तथा ये किसकी घात करते हैं?

गुरुदेव— घाती कर्म चार प्रकार के हैं, जैसे—(१) ज्ञानावरणीय, (२) दर्शनावरणीय, (३) मोहनीय, (४) अन्तराय। इन चार कर्मों मे (१) ज्ञानावरणीय का काम आत्मा के ज्ञान गुण की घात करना है। (२) दर्शनावरणीय कर्म से आत्मा के दर्शन गुण अर्थात् सामान्य बोध की घात होती है। (३) मोहनीय कर्म आत्मा के शुद्ध श्रद्धान और विरति भाव रूप चारित्र गुण का अवरोध करता है। (४) अन्तराय कर्म ज्ञानादि गुणो की आराधना और पालना मे विघ्न उपस्थित करता है।

ये चार कर्म ज्ञान, दर्शन, चारित्र और अनन्त शक्ति रूप आत्मिक गुणो का घात करने वाले होने से घाती माने गये हैं। ये केवल आत्मा को ससार मे रोके ही नही रखते किन्तु उसके मूल स्वभाव को भी प्रकट होने में रुकावट करते हैं। जब तक इनका जोर होता है आत्मा भव-चक्र मे भ्रमण करती है, पर इन चारो के क्षय होने पर शेष चार अघाती कर्म सत्ता मे रहते हुए भी आत्मा के मूल

स्वभाव में वाधा नहीं देते और निर्बल होकर अपना काल पूरा करते हैं। अतः इन्हें अघाती कर्म अर्थात् साधारण कर्म कहा है।

शिष्य—गुरुदेव ! अघाती कर्म कौन से हैं ? और उनका क्या काम है ?

गुरुदेव—अघाती कर्म चार प्रकार के है। (१) वेदनीय, (२) आयु, (३) नाम और (४) गोत्र।

(१) वेदनीय में साता-असाता की प्रतीति होती है, अनुभव होता है।

(२) आयु कर्म आत्मा को शरीर में अमुक काल तक रोके रखता है।

(३) नाम कर्म शरीर के रंग, रूप, लम्बाई, चौड़ाई, शरीर की सबलता, अनुपादेयता, अमनोज्ञता, और शरीर में शुभाशुभ वर्णादि उत्पन्न करता है।

(४) गोत्र-कर्म, जाति, कुल, बल आदि से जीव को ऊँच और नीच कहलाने का काम करता है।

शिष्य—गुरुदेव ! कर्म आत्मा के साथ किन-किन दशाओं में रहते हैं ?

गुरुदेव—आत्मा के साथ बन्धा हुआ कर्म-दल मुख्यतः चार दशाओं में रहते हैं (१) बन्धा, (२) उदय, (३) उदीरणा और (४) सत्ता।

बन्ध—आत्मा द्वारा नवीन कर्मों के ग्रहण करने को बन्ध कहते हैं।

उदय—आत्मा के साथ बन्धे हुए कर्मदलिकों का अपने को नियत समय पर शुभाशुभ फल देने को प्रकट होना उदय कहलाता है।

उदीरणा—बन्धे हुए कर्म-दलिको के नियत समय से पहले ही फल देने को आगे लाना, इसको उदीरणा करते है।

सत्ता—बन्धे हुए कर्मों को आत्मा के साथ लगे रहने को सत्ता कहते हैं।

शिष्य—गुरुदेव ! क्या बन्धे हुए कर्मों मे कोई हेर-फेर तथा फल मे न्यूनाधिकता की जा सकती है ?

गुरुदेव ने उत्तर दिया—आत्मा के साथ कर्मों का बन्ध दो रूप मे होता है—(१) अपरिवर्तनीय और (२) परिवर्तनीय। अपरिवर्तनीय बन्ध मे कर्मों का फल निश्चित रूप से बन्ध के अनुरूप ही भोगा जाता है। वहाँ कर्म-विपाक को भोगे विना छुटकारा नही होता है। इसमें बन्धे हुए कर्मों का उद्वर्तन, अपवर्तन और सक्रमण नही होता है। इसको निकाचित बन्ध कहते हैं।

दूसरे परिवर्तनीय बन्ध मे परिणाम विशेष से कर्म की स्थिति व अनुभाग मे उद्वर्तन, अपवर्तन अर्थात् घट-बढ हो सकती है। ऐसे कर्म विपाकोदय के विना प्रदेशोदय से ही निर्जरित होकर आत्मा से अलग हो जाते है। इसमे एक प्रकृति का किसी दूसरी प्रकृति मे रूपान्तर जिसे सक्रमण कहा जाता है—नही होता है। इसे निधत्त बन्ध कहते हैं।

शिष्य—गुरुदेव ! ज्ञानावरणीय आदि कर्मों की उत्तर प्रकृतियाँ कितनी और कौन-कौन सी हैं ?

गुरुदेव ने फरमाया—आठ कर्मों की उत्तर प्रकृतियाँ १४८ या १५८ होती हैं। आठ कर्म पहले कहे जा चुके है। उनमे एक-एक कर्म की उत्तर प्रकृतियाँ इस प्रकार है —

ज्ञानावरणीय की पाँच प्रकृतियाँ है—(१) मति ज्ञान, (२) श्रुत ज्ञान, (३) अवधिज्ञान, (४) मन पर्याय ज्ञान, (५) केवल

ज्ञान। इन पर जो प्रकृतियां आवरण करें वे पाँच हैं, उन्हें मतिज्ञानावरणीय आदि नाम से कहा गया है।

दर्शनावरणीय—कर्म की नौ प्रकृतियाँ हैं—(१) चक्षुदर्शन, (२) अचक्षुदर्शन, (३) अवधि-दर्शन और (४) केवल-दर्शन। इन पर आवरण करने वाली, ढकने वाली चक्षु दर्शनावरणीय आदि चार प्रकृतियाँ है, तथा निद्रा की पाँच प्रकृतियाँ है। इस प्रकार कुल ९ प्रकृतियाँ हुई। पाँच निद्राएँ इस प्रकार है—

(१) **निद्रा**—जिस निद्रा मे सरलता या सुख से सोए और सुख से जागे उसे निद्रा कहते हैं।

(२) **निद्रा-निद्रा**—जिस नींद में जोर मे चिल्लाने एवं शरीर पकड़ कर हिलाने पर भी जो कठिनाई से जागे उसे निद्रा-निद्रा कहते हैं।

(३) **प्रचला**—जिस कर्म के उदय से बैठे-बैठे या खड़े-खड़े निद्रा आवे उसे प्रचला कहते है।

(४) **प्रचला-प्रचला**—चलते-फिरते आने वाली निद्रा को प्रचला-प्रचला कहते हैं।

(५) **स्त्यानर्द्धि**—जागृत अवस्था मे सोचे हुए काम को निद्रा में किया जा सके उसे स्त्यानर्द्धि निद्रा कहते है। इस निद्रा मे किया हुआ कार्य जागृत अवस्था मे नही किया जा सकता है क्योंकि इस निद्रा के उदय से वासुदेव का आधा बल प्राप्त होता है।

वेदनीय—जिस कर्म से प्राणी सुख-दुःख का अनुभव करे उसे वेदनीय कर्म कहते हैं। जैसे शहद लगी तलवार को चाटने के समान अल्प सुख और अधिक दुःख होता है। इसके दो भेद हैं—(१) साता वेदनीय और (२) असाता वेदनीय। साता वेदनीय शहद चाटने से

होने वाले सुख के समान और असाता वेदनीय तलवार मे जीभ कटने के दुःख के समान जानना चाहिये।

मोहनीय—मद्य के समान जो कर्म आत्मा को हिताहित का भान भुलावे उसे मोहनीय कर्म कहते है। मोहनीय कर्म की मुख्यतः दो प्रकृतियाँ है, दर्शन मोहनीय और चारित्र मोहनीय। दर्शन मोहनीय की तीन और चारित्र मोहनीय की पच्चीस इस प्रकार कुल २८ प्रकृतिया होती है। दर्शन मोहनीय की तीन प्रकृतियाँ है—

(१) समकित मोहनीय—जिसके उदय से सम्यक्त्व गुण पूर्ण निर्मलता को प्राप्त नही कर सके उसे समकित मोहनीय कहते हैं।

(२) जिस प्रकृति के उदय से श्रद्धा मे दोलायमान हो, अयथार्थ और यथार्थ को समान समझता हो उसे मिश्र मोहनीय कहते हैं।

(३) मिथ्यात्व मोहनीय—जिस कर्म के उदय से जीव को तत्त्वो के श्रद्धान की यथार्थ रुचि न होकर विपरीत श्रद्धान हो, उसे मिथ्यात्व मोहनीय कहते हैं।

शिष्य—भगवन्! कषाय किसको कहते हैं?

गुरुदेव—जो परिणाम मन को कलुषित करे और भव भ्रमण को बढावे उसको कषाय कहते है।

शिष्य—भगवन्! कषाय के कितने प्रकार हैं?

गुरुदेव—कषाय चार प्रकार के हैं। (१) क्रोध, (२) मान, (३) माया और (४) लोभ। परिणामो के तीव्र-मद सक्लेश के कारण क्रोध आदि चार प्रकार के होते हैं। जैसे—(१) अनन्तानुबंधी (२) अप्रत्याख्यानी, (३) प्रत्याख्यानावरण और (४) सज्वलन।

शिष्य—भगवन ! अनन्तानुबन्धी आदि कषायों की पहचान क्या है, स्पष्ट करावें ?

गुरुदेव—अनन्त अनुवन्ध वाले कलुपित परिणामों को अनन्तानुबन्धी कहते है।

जिसके तीव्रतम संक्लिष्ट परिणाम पत्थर की दरार के समान प्रयत्न करने पर भी नही मिट पावें उसे अनन्तानुवन्धी कहते है।

अनन्तानुवन्धी क्रोध को पर्वत की दरार के समान अमिट कहा है।

जो मान वज्र के थंभे के समान, माया वास की जड़ के समान और लोभ किमचीरग के समान प्रयत्न करने पर भी नही मिट पावे उसको अनन्तानुबन्धी समझना चाहिए।

अप्रत्याख्यानी प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन के क्रोध आदि में क्रमशः मद, मंदतर, मंदतम परिणामों की संक्लिष्टता होती है। स्थूल रूप से यही अनन्तानुवन्धी आदि की पहचान समझनी चाहिए। अनन्तानुवन्धी आदि चार कपायों मे प्रत्येक के ४-४ भेद मिलाकर सव १६ भेद कपाय मोह के होते है।

शिष्य—भगवन् ! नो कषाय मोह का क्या स्वरूप है ? और उसके कितने प्रकार हैं ?

गुरुदेव—जो क्रोध आदि कपायों के साथ रहकर उनको प्रेरित करता हो, वढ़ाता हो उसे नो कपाय मोह कहते हैं। इनके ९ प्रकार हैं। जो इस प्रकार है— (१) हास्य, (२) रति, (३) अरति, (४) भय, (५) शोक, (६) जुगुप्सा, (७) स्त्री वेद, (८) पुरुप वेद, और (९) नपुंसक वेद इस प्रकार नो कपाय मोहनीय के ९ और कपाय मोहनीय के १६ मिलाकर चरित्र मोहनीय की कुल २५ प्रकृतियां होती हैं। दर्शन मोहनीय की ३ प्रकृतियां जोड़ने से मोह कर्म की २८ उत्तर प्रकृतियां होती है।

शिष्य—गुरुदेव! आयु-कर्म किसे कहते हैं, और उसकी उत्तर प्रकृतियां कितनी हैं?

गुरुदेव—जो कर्म जीव को नारक, तिर्यंच, मनुष्य और देव गति मे वन्दीखाने मे वन्दी की तरह रोका रखे, उसे आयु कर्म कहते हैं। उसके चार प्रकार हैं—(१) नरक आयु, (२) तिर्यंच आयु, (३) मनुष्य आयु और (४) देव आयु।

शिष्य—गुरुदेव! नाम कर्म किसे कहते हैं और उसकी कितनी प्रकृतियां हैं?

गुरुदेव! जिस कर्म के उदय से जीव को गति, जाति, शरीर आदि विविध पर्यायो की प्राप्ति हो उसे नाम कर्म कहते हैं। नाम कर्म के अपेक्षा से ४२, ६५, ९३ और १०३ भेद कहते हैं। वे इस प्रकार हैं—पिंड प्रकृति के १४, प्रत्येक प्रकृति के ८, त्रस के १० और स्थावर के १०, यों कुल ४० भेद हुए। इनमें १४ पिंड प्रकृति के भेद व उपभेद इस प्रकार हैं—

(१) गति—गति के चार भेद हैं—(१) नरक, (२) तिर्यंच, (३) मनुष्य और (४) देवगति।

(२) जाति—जाति के पाच भेद हैं—(१) एकेन्द्रिय, (२) वेइन्द्रिय, (३) तेइन्द्रिय, (४) चतुरिन्द्रिय और (५) पचेन्द्रिय।

(३) शरीर—शरीर नाम के पाँच भेद हैं—(१) औदारिक, (२) वैक्रिय, (३) आहारक, (४) तैजस और (५) कार्मण शरीर।

(४) अगोपांग—अगोपाग नाम के ३ भेद हैं—(१) औदारिक अगोपाग, (२) वैक्रिय अगोपाग, (३) आहारक अगोपाग।

(५) **बन्धन**—बन्धन नाम के पाँच भेद हैं—(१) औदारिक बन्धन, (२) वैक्रिय बन्धन, (३) आहारक बन्धन, (४) तैजस बन्धन और (५) कार्मण बन्धन।

(६) **संघातन**—संघातन नाम के ५ भेद हैं। औदारिक संघातन आदि पाँचों शरीर के पाच संघातन है।

(७) **संहनन**—संहनन के ६ भेद हैं--(१) वज्र ऋषभ नाराच संहनन, (२) ऋषभ नाराच संहनन, (३) नाराच, (४) अर्द्ध नाराच संहनन, (५) कीलिका संहनन और (६) सेवार्त्त संहनन।

(८) **संस्थान**—संस्थान नाम के ६ भेद हैं—(१) समचतुरस्र संस्थान, (२) न्यग्रोध परिमंडल सस्थान, (३) सादि संस्थान, (४) वामन संस्थान, (५) कुब्जक संस्थान, और (६) हुंडक संस्थान।

(९) **वर्ण**—वर्ण नाम के पाँच भेद है—(१) काला, (२) पीला, (३) नीला, (४) लाल और (५) सफेद।

(१०) **गंध**—गंध नाम के २ भेद हैं—(१) सुगन्ध और (२) दुर्गन्ध।

(११) **रस**—रस नाम के ५ भेद हैं—(१) तीखा, (२) कडुवा, (३) कसैला, (४) खट्टा और (५) मीठा।

(१२) **स्पर्श**—स्पर्श नाम के ८ भेद हैं-(१) गुरु, (२) लघु, (३) मृदु, (४) खर, (५) शीत, (६) उष्ण, (७) स्निग्ध, और (८) रूक्ष।

(१३) **आनुपूर्व्वी**—आनुपूर्व्वी नाम के ४ भेद हैं—(१) नरकानुपूर्व्वी, (२) तिर्यंचानुपूर्व्वी, (३) मनुष्यानुपूर्व्वी और (४) देवानुपूर्व्वी।

(१४) **विहायोगति**—विहायोगति नाम के २ भेद हैं—(१) शुभ विहायोगति और (२) अशुभ विहायोगति।

इस प्रकार पिंड प्रकृति के कुल ६५ भेद होते हैं।

शिष्य—गुरुदेव ! अपने पिंड प्रकृतियो के ६५ भेद बतलाये, उनका अर्थ समझाने की कृपा करें।

गुरुदेव ने फरमाया—चार गति और पाँच जातियों का स्वरूप प्रसिद्ध है, अत उनको परम्परा के अनुसार समझ सकते ह। शरीर नाम कर्म का अर्थ ह जो प्रतिक्षण जीर्ण हो, क्षीण हो उसे शरीर कहते ह। वह पाच प्रकार का होता ह।

औदारिक शरीर—जो शरीर हाड मास, रक्त आदि से बना हो, जो जलाया व छेदन-भेदन किया जा सके तथा जीव के निकलने पर भी कलेवर रूप से पडा रहता हो, उसे औदारिक शरीर कहते हैं। यह शरीर मनुष्यो और तिर्यचों मे होता है।

वैक्रिय शरीर—जिसमे विशेष क्रिया की जावे और शरीर से जीव के निकलन पर देह के परमाणु कपूर की तरह विखर जावे। उसे वैक्रिय शरीर कहते ह यह देव नारक मे जन्म सिद्ध होता है।

आहारक शरीर—चवदह पूर्व धारी मुनि अपनी शका को निवारण करने के लिए आहारक समुद्घात द्वारा अपने शरीर से एक हाथ का पुतला निकालकर तीर्थंकर या केवली के पास भेजे और जिसके माध्यम से उत्तर प्राप्त करे उस शरीर को आहारक शरीर कहते ह। यह तीर्थंकर से उत्तर पाकर मुनि के पास पहुँचता है और मूल शरीर मे विलीन हो जाता ह।

तैजस शरीर—जिसके द्वारा खाये हुए भोजन की पाचन क्रिया हो और जिससे तेजोलेश्या-लब्धि प्रकट हो उस तैजस शरीर कहते ह।

कार्मण शरीर—जिस शरीर से जीव अपने उत्पत्ति काल मे आहार ग्रहण करे और जो चतुर्गति ससार म भ्रमण करावे जो कर्मों का पुंज हो उसे कार्मण शरीर कहते है। ये दोनो अन्तिम शरीर समस्त ससारी जीवो के होते है।

अंगोपांग—जिस कर्म के उदय से हाथ, पैर, सिर आदि अंग और अंगुली आदि उपांग प्राप्त हों। पोर अगुलियो की रेखा एवं पर्वों को अंगोंपांग कहते है। प्रथम के तीन शरीरो मे ही अंगोपांग होते है अतः अंगोपाग नाम के तीन भेद किये है।

बंधन नाम—जिस कर्म के उदय से पहले से गृहीत शरीर पुद्गलों के साथ नवीन पुद्गलों का बंध हो उसे बंधन नाम कहते है। औदारिक आदि पांच शरीरों के अनुरूप इसके पांच भेद है।

संघातन नाम—यह ग्रहण किए हुए पुद्गलो को यथा स्थान व्यवस्थित रूप से स्थापन करता है। यह भी औदारिक आदि पाच प्रकार का है।

संहनन नाम—शरीर की अस्थि रचना को संहनन नाम कहते हैं। वह ६ प्रकार का है। यथा—(१) वज्रऋषभ नाराच (२) ऋषभ नाराच (३) नाराच (४) अर्द्ध नाराच (५) कीलक और (६) सेवार्त्त।

वज्रऋषभ नाराच—शरीर मे रही हुई दो अस्थियों के ऊपर पट्टा होने को ऋषभ, ऊपर नीचे मर्कट बंध को नाराच और पट्टी पर वज्रमय कीलिका को वज्र कहा गया है।

(१) जिस शरीर में दोनों अस्थियों पर दृढ़ कीले हो वैसे अस्थि बंध की रचना को वज्रऋषभ नाराच संहनन कहते है।

(२) जिस शरीर मे वज्र की कीलिका को छोड़कर ऋषभ और मर्कट बंध हो उसे ऋषभ नाराच संहनन कहते हैं।

(३) जिस शरीर मे वज्र और ऋषभ को छोड़कर केवल मर्कट बंध हो उसे नाराच संहनन कहते है।

(४) जिस शरीर मे अस्थियो पर ऊपर नीचे बधन न होकर केवल एक ओर मर्कट बधन हो उसे अर्द्ध नाराच कहते हैं।

(५) जिस शरीर मे कीलक युक्त अस्थि बधन हो, उसे कीलक सहनन कहते है।

(६) जिस शरीर मे कीलक आदि कुछ भी न होकर मात्र अस्थियाँ हो ऐसे शिथिल शरीर बधन को सेवात्त कहते हैं।

इनमे आगे-आगे के सहनन मे क्रमश शारीरिक बल और अस्थि रचना की मजबूती मे कमी मानी गई है।

सस्थान—शरीर के आकार को सस्थान कहते है, यह ६ प्रकार का है यथा—(१) समचतुरस्र (२) न्यग्रोध परिमडल (३) सादि (४) वामन (५) कुब्जक और (६) हु डक।

(१) समचतुरस्र सस्थान—पालकी आसन से बैठे हुए को दाहिने कधे से बायें घुटने तक और बायें कधे से दाहिने घुटने तक और दोनो घुटनो और स्कन्धो का अन्तर मापने से समान हो अथवा जो शरीर ऊपर और नीचे के अवयव लक्षण प्रमाण सहित हो, उसे समचतुरस्र सस्थान कहते हैं।

(२) न्यग्रोध परिमण्डल सस्थान—जो शरीर वट वृक्ष की तरह ऊपर से विस्तार युक्त और नीचे से सकुचित हो, उसे न्यग्रोध परिमण्डल सस्थान कहते हैं।

(३) सादि सस्थान—जिस शरीर मे नाभि से नीचे क अग प्रमाणोपेत हो और ऊपर के अग प्रमाण से हीन हो, उसे सादि सस्थान कहते हैं।

(४) वामन सस्थान—जो शरीर वामने आकार का हो, उसे वामन सस्थान कहते है।

(५) **कुब्ज संस्थान**—जिस शरीर की आकृति कुवड़े रूप में हो, जिसकी छाती आगे निकली हुई हो, उसे कुब्ज संस्थान कहते हैं।

(६) **हुंडक संस्थान**—जिसका पूरा शरीर प्रमाण रहित हो सभी अवयव बेडोल आकृति के हों उसे हुंडक संस्थान कहते हैं।

वर्ण—जिस कर्म के उदय से शरीर में कृष्ण, नील आदि वर्ण हो उसे वर्ण नाम कहा है।

गंध—जिस कर्म से शरीर में शुभाशुभ गंध की प्राप्ति हो उसे गंध नाम कहते है।

रस—जिस कर्म से शरीर के पुद्‌गल तिक्त, कटु, आदि रस रूप मे हों उसे रस नाम कहते हैं।

स्पर्श—शरीर में कर्कश, मृदु, गर्म, ठंडा आदि स्पर्श वाले अंग-प्रत्यंगों का होना स्पर्श नाम है।

अपेक्षाकृत वर्णादि में शुभ और अशुभ माने गये है। शुभ वर्ण, गंध, रस और स्पर्श शुभ नाम कर्म के उदय से और अशुभ वर्ण, गंध, रस और स्पर्श अशुभ नाम कर्म के उदय से माने गये है। व्यवहार मे कृष्ण और नील वर्ण, गंध में दुरभि गंध, रस में तिक्त और कटु तथा स्पर्श खुरदरा भारी, लूखा और ठंडा, इनको अशुभ प्रकृतियों के रूप से माना गया है। इसे सामान्य कथन समझना चाहिये। विशेप रूप से कृष्णादि सभी वर्ण, गंध, रस, स्पर्श शुभ भी होते है। जैसे आख का तारा व सिर के बाल काले होकर भी शुभ हैं। इनका धोला (सफेद) होना अशुभ माना जाता है। इस प्रकार वर्ण, गंध, रस, और वर्ण की सभी प्रकृतिया शुभ और अशुभ दोनों प्रकार की मानी गई हैं।

आनुपूर्व्वी नाम कर्म—बैल की नाथ के समान, समश्रेणी से वक्र गति से जाते हुए जीव को उत्पत्ति स्थान की ओर मोड़ कर उस स्थान

पर पहुचावे उसे आनुपूर्व्वी नाम कर्म कहते हैं। यह विग्रह गति मे वक्र गति से जाने वाले जीव को ही होता है। (क्योकि जीव समश्रेणी से जब आगे बढने लगता है तब उसको उत्पत्ति स्थान की ओर मोडने मे आनुपूर्व्वी नामकर्म अपना काम करता है।) आनुपूर्व्वी नाम कर्म चार प्रकार का है। यथा—(१) नरकानुपूर्व्वी (२) तिर्यचानुपूर्व्वी (३) मनुष्यानुपूर्व्वी और (४) देवानुपूर्व्वी।

विहायोगति नाम कर्म—यह दो प्रकार का है। (i) शुभ विहायोगति और (ii) अशुभ विहायोगति—

(१) जिस कर्म के उदय से जीव हाथी, बैल, हस के समान शुभ गति वाला हो उसे शुभ विहायोगति नाम कहते हैं।

(२) जिस कर्म के उदय से जीव श्वान, गधा और ऊट के समान अशुभ गति वाला हो उसे अशुभ विहायोगति नाम कहते हैं।

पिण्ड प्रकृतियो के अन्तर्भेद सब मिलाकर ६५ समझाये गये हैं। इनमे आठ प्रत्येक प्रकृति और त्रस दशक और स्थावर दशक इन २८ प्रकृतियो को मिलाने से ९३ भेद नाम कर्म की प्रकृतियो के होते हैं।

शिष्य—गुरुदेव! २८ प्रकृतियाँ कौन सी हैं और उनका क्या स्वरूप है?

गुरुदेव—२८ प्रकृतियो मे पहले ८ प्रत्येक प्रकृतियो का वर्णन किया जा रहा है जो इस प्रकार है—

(१) पराघात नाम—जिस कर्म के उदय से जीव अपनी शारीरिक बल और ओज से दूसरो को पराभूत कर सके उसे पराघात नाम कहते हैं।

(२) उच्छवास नाम—जिस कर्म के उदय से जीव श्वासोच्छवास वर्गणा के पुद्गलो को ग्रहण कर छोडने का सामर्थ्य प्राप्त करता है उसे उच्छवास नाम कहते हैं।

(३) **आतप नाम**—जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर स्वयं उष्ण नहीं होते हुए भी दूसरों के लिए तापयुक्त हो उसे आतप नाम कहते हैं। आतप नाम कर्म का उदय सूर्य मण्डल की तरह पृथ्वीकाय के जीवों को होता है।

(४) **उद्योत नाम**—जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर शीतल प्रकाश उत्पन्न करता हो उसे उद्योत नाम कहते हैं जैसे चन्द्र मण्डल, नक्षत्र, तारक, जुगनू और पार्थिव शरीर में उद्योत नाम कर्म का उदय माना गया है।

(५) **अगुरुलघु नाम**—जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर न हल्का न भारी होता है, उसे अगुरुलघु नाम कर्म कहते हैं।

(६) **निर्माण नाम**—जिस कर्म के उदय से शरीर के अंगोपांगों का सूत्रधार के समान यथोचित स्थान में व्यवस्थापन किया जाय उसे निर्माण नाम कर्म कहते हैं।

(७) **उपघात नाम**—जिस कार्य के उदय से अपने शरीर के अंगोपाग चोर दांत की तरह अपने लिए पीड़ाकारी हो उसे उपघात नाम कर्म कहते हैं।

(८) **तीर्थंकर नाम**—जिस कर्म के उदय से जीव तीनों लोकों में पूजनीय हो और धर्म तीर्थ की स्थापना करे उसे तीर्थंकर नाम कर्म कहते हैं। इसका उदय कैवल्य दशा में ही होता है।

ये आठों प्रकृतियां प्रतिपक्ष रहित होने से प्रत्येक प्रकृति कहलाती है।

त्रस आदि दस प्रकृतियां—

(१) **त्रस नाम**—जिस कर्म के उदय से जीव द्वेइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय रूप से त्रसनशील अर्थात् गतिशील शरीर

प्राप्त करे, जो एक स्थान से दूसरे स्थान को स्व-प्रयत्न से जा सके उसे त्रस नाम कर्म कहते हैं।

(२) बादर नाम—जिस कर्म के उदय से जीव को बादर काय की प्राप्ति हो, उसे बादर नाम कर्म कहते हैं।

(३) पर्याप्त नाम—जिस कर्म के उदय से जीव अपनी योग्य पर्याप्तियों से युक्त हो, उसे पर्याप्त नाम कहते हैं।

(४) प्रत्येक नाम—जिस कम के उदय से जीव को पृथक्-पृथक् शरीर की प्राप्ति हो उसे प्रत्यक नाम कम कहते हैं।

(५) स्थिर नाम – जिस कर्म के उदय से दात, अस्थि आदि शरीर के अग स्थिर हो अर्थात दृढ हो उसे स्थिर नाम कर्म कहते हैं।

(६) शुभ नाम—जिस कर्म के उदय से शरीर के आख, कान, नासिका और सिर आदि अग पूर्ण व शुभ हो उसे शुभ नाम कर्म कहते है।

(७) सुभग नाम जिस कम के निमित्त से जीव सव प्रिय हो उसे सुभग नाम कम कहते ह।

(८) सुस्वर नाम – जिस कर्म के उदय से प्राणी का स्वर मधुर और इष्टकारी हो, उसे सुस्वर नाम कर्म कहते हैं।

(९) आदेय नाम—जिस कम के उदय से जीव का वचन सर्वमान्य हो उसे आदेय नाम कम कहते हैं।

(१०) यश कीर्ति नाम—जिस कर्म के उदय से जीव की यश कीर्ति फैले यशकीर्ति नाम कर्म कहते हैं।

त्रस दशक की तरह स्थावर की भी दश प्रकृतिया हैं जो इस प्रकार हैं—

(१) **स्थावर नाम**—जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर स्थिर हो, एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाने की सामर्थ्य रहित हो उसे स्थावर नाम कर्म कहते हैं।

(२) **सूक्ष्म नाम**—जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर सूक्ष्म हो, इन्द्रिय ग्राह्य नही हो उसे सूक्ष्म नाम कर्म कहते है।

(३) **अपर्याप्त नाम**—जिस कर्म के उदय से जीव अपनी योग्य पर्याप्तियों को पूर्ण न करे तब तक उसे अपर्याप्त नाम कर्म कहते है।

(४) **साधारण नाम**—जिस कर्म के उदय से प्रत्येक जीव का पृथक् शरीर न होकर अनन्त जीवों का एक ही शरीर हो उसे साधारण नाम कर्म कहते हैं। ऐसे जीवों का जन्म, मरण, आहार और श्वास आदि संयुक्त रूप से एक साथ होता है।

(५) **अस्थिर नाम**—जिस कर्म के उदय से जीव को जिह्वा, कान आदि अस्थिर अवयव प्राप्त हों उसे अस्थिर नाम कर्म कहते हैं।

(६) **अशुभ नाम**—जिस कर्म के उदय से शरीर के अंग अशुभ हों उसे अशुभ नाम कर्म कहते हैं।

(७) **दुर्भग नाम**—जिस कर्म के उदय से जीव उपकार करते हुए भी अशुभ लगे उसे दुर्भग नाम कर्म कहते हैं।

(८) **दुःस्वर नाम**—जिस कर्म के उदय से जीव का स्वर कर्कश और वाणी अप्रिय प्रतीत हो उसे दु.स्वर नाम कर्म कहते हैं।

(९) **अनादेय नाम**—जिस कर्म के उदय से प्राणी की अच्छी बात भी दूसरों को अच्छी नहीं लगे, ग्राह्य नहीं हो सके उसे अनादेय नाम कर्म कहते हैं।

(१०) **अयशःकीर्ति नाम**—जिस कर्म के उदय से जीव लोक में अपकीर्ति प्राप्त करे, उसे अयशःकीर्ति नाम कर्म कहते हैं।

इस प्रकार ८ प्रत्येक प्रकृति, १० त्रस नाम प्रकृति और १० स्थावर नाम प्रकृति कुल २८ प्रकृति मे पूर्वोक्त ६५ पिण्ड प्रकृति मिल कर नाम कर्म की ९३ प्रकृतिया होती है और इनमे बन्धन की १० प्रकृतियो और मिलाने से १०३ प्रकृतिया हो जाती है। तथा प्रकारान्तर से उपर्युक्त २८ प्रकृतियो के साथ १४ पिण्ड प्रकृतिया मिलाने से नाम कर्म की ४२ प्रकृतिया भी गिनी जाती हैं।

जन साधारण मे जो बालक के जन्मकाल से छठे दिन विधाता जी के लेख लिखने की धारणा चलती है, वह भ्रान्त है। जैन शास्त्र यह बतलाता है कि जीव ही अपना कर्ता-धर्ता है उसके शुभाशुभ को लिखने के लिए किसी अन्य देवी देव की कल्पना की आवश्यकता नही है। आत्मा के शुभाशुभ कर्म के अनुसार उसके शुभाशुभ फल इसी नाम कर्म के द्वारा सम्पन्न किये जाते हैं। इसी को एक प्रकार से विधाता कह सकते हैं।

शिष्य—भगवन्! मनुष्य समाज मे कोई ऊँचा और कोई नीचा कहा जाता है इसका क्या कारण है? गोत्र कर्म क्या है? और उसके कितने भेद हैं? स्पष्ट करने की कृपा करें।

गुरुदेव ने फरमाया—जैन धर्म मे जन्म से ऊँच-नीच की व्यवस्था वास्तविक नही मानी गई है। गोत्र कर्म की व्याख्या मे मुख्यता से मातृपक्ष की उज्ज्वलता को उच्च कुल और उसकी हीनता अर्थात् सदोषता को नीच कुल कहा गया है।

जिसके द्वारा जीव उच्च-नीच कहा जावे उसे गोत्र कर्म कहते हैं। ठाणाग सूत्र मे गोत्र कर्म के दो प्रकार किये हैं—(१) उच्च गोत्र और (२) नीच गोत्र। वृत्तिकार ने व्याख्या करते हुए कहा है—पूज्योऽपूज्योऽयमित्यादि व्यपदेश रूपा गा वाच त्रायते इति गोत्रम् (स्थानाग २-४) अर्थात्

जिससे जीव पूज्य अपूज्य अथवा प्रशंसात्र और निंदापात्र कहा जावे, वह गोत्र कर्म है।

उत्तराध्ययन सूत्र के ३३वें अध्याय में कहा है—

गोयं कम्मं तु दुविहं उच्चं-नीयंच आहियं।

उच्चं अट्ठविहं होई, एवं नीयं पि आहियं ॥१४॥

अर्थात् गोत्र कर्म दो प्रकार का है—(१) ऊँच गोत्र और (२) नीच गोत्र। ऊँच गोत्र के आठ प्रकार हैं, ऐसे ही नीच गोत्र को भी समझना चाहिये। यहाँ सूत्रकार ने गोत्र कर्म के दो प्रकार बतलाकर ऊँच गोत्र और नीच गोत्र को आठ-आठ प्रकार का कहा है। इससे केवल जाति विशेष में जन्म पाने से ही उच्च और नीच नहीं होता, किन्तु आठ बातों की विशेषता से उच्च और आठ बातों की हीनता से नीच बतलाया गया है। इसी बात का समर्थन करते हुए उत्तराध्ययन सूत्र के १२ अध्याय गाथा ३७ में कहा है।

"सक्खं खु दीसई, तवो विसेसो, न दीसई जाइ विसेस कोई" ॥३७॥

अर्थात् प्रत्यक्ष में तप की विशेषता देखी जाती है, जाति की विशेषता नहीं देखी जाती।

शिष्य—गुरुदेव! उच्च गोत्र के आठ प्रकार बतलाये हैं वे कौन से हैं?

गुरुदेव ने फरमाया—उच्च गोत्र के आठ प्रकार, इस प्रकार है—(१) जाति सम्पन्नता (२) कुल सम्पन्नता (३) बल सम्पन्नता (४) रूप सम्पन्नता (५) तप सम्पन्नता (६) श्रुत सम्पन्नता (७) लाभ सम्पन्नता और (८) ऐश्वर्य सम्पन्नता।

जाति, कुल आदि आठ प्रकार के मद स्थानों का सेवन नहीं करने से जाति, कुल आदि आठ की सम्पन्नता प्राप्त होती है। यही

उच्च गोत्र है। जाति आदि का गर्व करने से इन आठों की हीनता मिलती है यही नीच गोत्र हैं। ठाणाग ८वा समवयाग ८वा

शिष्य—गुरुदेव ! आपने आठ प्रकार के मद कहे हैं वे कौन से हैं ?

गुरुदेव ने फरमाया—ठाणाग सूत्र मे आठवें ठाणे म आठ प्रकार के मद कहे हैं—अट्ठ मय ठाणा पण्णत्ता त जहा जाइमए, कुलमए, वलमए, रुवमए, तवमए, सुयमए, लाभमए इस्सरियमए ।।७६।। अर्थात् विशिष्ट जाति एव कुल में उत्पन्न होने का मद करना, वल-शक्ति की अधिकता का मद करना, रूप शरीर की सुदरता का मद करना, तप का मद करना, श्रुत ज्ञान का मद करना, लाभ प्राप्ति का मद करना तथा—ऐश्वर्य प्राप्ति का मद करना। इन आठ मदो के सेवन से नीच गोत्र का वध होता है। इस प्रकार परिणामो के अनुसार उच्च गोत्र और नीच गोत्र की प्राप्ति होती है।

शिष्य—गुरुदेव ' अन्तराय कर्म का क्या स्वरूप है ? और इसके कितने भेद हैं ?

जिस कम के उदय से जीव को अपने इष्ट काय की सिद्धि व फल प्राप्ति मे वाधा उत्पन्न हो, (चाहते हुए भी जिसके निमित्त से जीव अपना काय नही कर सके) उसे अन्तराय कर्म कहते हैं। इसके मुख्य पाँच भेद हैं—

जैसा कि कहा है—दाणे, लाभे य, भोगे य, उवभोगे वीरिए तहा। उत्तराध्ययन सूत्र का ३३वा अध्याय गाथा १५।

अर्थात्—(१) दान (२) लाभ (३) भोग (४) उपभोग और (५) वीर्य उपरोक्त पाचो मे वाधा होना अन्तराय का प्रकार है। इनके अतिरिक्त तप, ध्यान और श्रुत पठन आदि के अन्तरायो को ध्यानान्तराय आदि रूप से स्वय समझ लेना चाहिये।

इस प्रकार आठ कर्म की १४८ उत्तर प्रकृतिया कही गई हैं।

मोक्ष

मोक्ष—बन्ध से सर्वथा छूटने का नाम ही मोक्ष है। जैसा कि कहा है—

"कृत्स्नकर्मक्षयो मोक्ष"

अर्थात् सम्पूर्ण कर्मों का क्षय ही मोक्ष कहलाता है। इसलिए बन्ध तत्त्व के बाद मोक्ष का विचार किया जाता है।

शिष्य ने जिज्ञासा भरे शब्दों में पृच्छा की—भगवन्! पिछले प्रकरण में बन्ध का स्वरूप और उसकी उत्तर प्रकृतियों का परिचय प्राप्त हुआ। अब यह बतलाइये कि जीव का इस कर्म जन्य बन्ध से छुटकारा कैसे होता है, कर्म बन्ध से छूटने के क्या उपाय हैं?

गुरुदेव ने कहा—संवर और निर्जरा धर्म की सम्यग् आराधना से जीव कर्म जन्य अनादिकालीन पराधीनता और बन्ध से मुक्त होता है। तत्त्वार्थ सूत्र में भी कहा है—

"बन्धहेत्वभावनिर्जराभ्यां कृत्स्नकर्मक्षयो मोक्षः" (तत्त्वार्थ १०/२-३)

अर्थात् सर्वथा बन्ध हेतुओं के अभाव और निर्जरा से सर्वथा भावेन कर्म से आत्मा का छूटना ही मोक्ष है। कर्म बन्ध से छूटने के चार उपाय हैं। जैसे—सम्यक्ज्ञान, सम्यग्दर्शन, सम्यक्चारित्र और सम्यग्तप। तत्त्वार्थ सूत्र में तप का चारित्र में समावेश करके तीन उपाय भी बताये हैं जैसे—

"सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्ष मार्ग"

अर्थात् सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र ही मोक्ष का मार्ग है।

शिष्य—कर्म मुक्त आत्मा को किस नाम से पुकारा जाता है?

गुरुदेव—मुक्त आत्माओ को सिद्ध, बुद्ध आदि अनेक शब्दा मे अभिहित किया जाता है। जैसा कि कहा है —

"सिद्ध त्ति य बुद्ध त्ति य पारगय त्ति य परम्पर गय त्ति।"
उम्मुक्क कम्म कवया अजरा अमरा असगा य ॥२०॥ उववाई ॥२॥

सिद्ध-बुद्ध-पारगत, परम्पर गत, उन्मुक्त, अजर, अमर और असग आदि मुक्तात्माओ को अनेक नामो से पुकारा जाता है।

शिष्य—भगवन्! कर्म बन्ध से छुटकारा पाने पर आत्मा की क्या स्थिति होती है?

गुरुदेव—कर्म बन्ध से छूट जाने पर आत्मा सिद्ध, बुद्ध, मुक्त और तन-मन इन्द्रियो से रहित अशरीरी, अरूप हो जाता है। वह शुद्ध आत्मा-भाव अर्थात ज्ञान दर्शन आदि स्वभाव मे लीन रहता है।

असरीरा जीव घणा, उवउत्ता दसणे य नाणे य।
सागार उणागार लक्खण मेय तु सिद्धाणा॥

अर्थात् मुक्त जीव शरीर रहित चैतन्य घन और ज्ञान-दर्शन उपयोग वाले होते हैं। वे शुद्ध आत्मा भाव मे ही स्थित होते हैं। ससारी जीव की तरह उनको जन्म, मरण और वृद्धावस्था के कष्ट नही होते।

शिष्य—भगवन्! कर्म से मुक्त हो जाने पर जीव की गति कैसे होती है?

गुरुदेव—मुक्तात्मा का स्वभाव ऊर्ध्वगमन करने का होता है और ऊर्ध्वगमन ऋजुगति से होता है। जैसे धुआं ऊपर की ओर जाता है वैसे मुक्तात्मा लोकाग्र की ओर गति करती है। कुम्भकार का चक्र, धनुष से छोड़ा वाण, मूंग आदि की सूखी हुई फली से उछले हुए बीज की तरह मुक्तात्माओं की गति मानी गई है। ईंधन से निकला हुआ धुआँ, तथा बन्दूक से छोड़ी गई गोली के समान मुक्तात्मा पूर्व प्रयोग से ऊर्ध्व गति कर लोक के अग्र भाग पर जाकर स्थित होती है।

शिष्य—भगवन्! मुक्तात्मा लोकाग्र तक ही क्यों जाती है, आगे अलोक में क्यों नहीं जाती?

गुरुदेव—जीव के गति करने में धर्मास्तिकाय का सहकार होता है। जल के विना भूमि पर मछली गति नही कर सकती उसी की तरह मुक्तात्मा धर्मास्तिकाय शून्य प्रदेश में गति नही कर पाती। आकाश के अतिरिक्त धर्मास्तिकाय आदि शेष द्रव्य लोक में ही सीमित रहते हैं। अलोक में नहीं होते। अतएव धर्मास्तिकाय के अभाव में मुक्तात्माओं का लोक के बाहर गमन नहीं होता।

शिष्य—भगवन्! मोक्ष के अधिकारी जीव या अजीव कौन होते हैं? क्या सभी जीव मुक्त हो सकते हैं?

गुरुदेव—कर्म बन्ध जीव के ही होता है, अजीव के नहीं इसलिये मोक्ष का अधिकारी भी जीव ही होता है अजीव नहीं। जीवों के भव्य और अभव्य दो प्रकार के जीव होते हैं। उनमें भव्य ही मोक्ष के अधिकारी होते हैं अभव्य नहीं। क्योंकि अभव्य में मुक्ति प्राप्त करने की योग्यता नही है। अत: वे मुक्ति के अधिकारी नही होते।

शिष्य—भगवन्! मुक्तात्माओं के सम्बन्ध में शास्त्र में और किस प्रकार से विचार किया गया है?

गुरुदेव—मुक्तात्मा जिनको सिद्ध भी कहते है, के सम्बन्ध मे उत्तराध्ययन और औपपातिक सूत्र मे चार प्रश्न दिये हैं और उनके उत्तर के माध्यम से सिद्धो का स्वरूप बताया गया है।

प्रश्नोत्तर का क्रम इस प्रकार है—(१) सिद्ध कहाँ जाकर के रुके रहते हैं ? (२) कहाँ अवस्थित हैं ? (३) शरीर का त्याग कहाँ करते हैं ? और (४) किस जगह सिद्ध होते हैं ?

उत्तर मे कहा गया है—सिद्ध परमात्मा अलोक से लग कर रुके है, लोक के अग्र भाग मे अवस्थित है मनुष्य लोक मे शरीर का त्याग कर लोक के अग्र भाग मे जाकर सिद्ध हुए हैं जैसा कि कहा है—

अलोए पडिहया सिद्धा, लोयग्गे य पइट्ठिया।

इहबोंदि चइत्ताण तत्य गतूण सिज्झई ॥उत्तराध्य ३६ ५६

शिष्य—भगवन् ! मुक्त जीव कहाँ, किस रूप मे और एक समय मे कितने सिद्ध होते हैं ?

गुरुदेव—जैन शास्त्र मे सिद्धो के १५ भेद बताये गये हैं। जो इस प्रकार हैं—

(१) तीर्थंकर सिद्ध—तीर्थंकर पद की प्राप्ति करके सिद्ध होने वाले, तीर्थंकर सिद्ध कहलाते हैं—जैसे भगवान् ऋषभदेव आदि।

(२) अतीर्थंकर सिद्ध—सामान्य केवली पद से सिद्ध होने वाले—जैसे गौतम, पुण्डरीक आदि।

(३) तीर्थ सिद्ध—चतुर्विध तीर्थ संघ की स्थापना के पश्चात् सिद्ध होने वाले जसे—गौतम आदि।

(४) अतीर्थ सिद्ध—तीर्थ स्थापना के पहले या तीर्थ का विच्छेद होने के वाद, सिद्ध होने वाले राग द्वेष पर विजय प्राप्त कर सिद्ध होने वाले—जैसे मरुदेवी आदि ।

(५) स्वयं बुद्ध सिद्ध—जाति स्मरण आदि ज्ञान से पूर्व जन्म जानकर बिना उपदेश के ही स्वयं साधना से सिद्ध होने वाले—जैसे कपिल आदि ।

(६) प्रत्येक बुद्ध सिद्ध—वृक्ष-चूड़ी आदि किसी एक निमित्त को पाकर स्वयं दीक्षा लेकर सिद्ध होने वाले—जैसे करकडू राजा आदि ।

(७) बुद्ध बोधित सिद्ध—गुरु आदि के उपदेश से प्रतिबोध पाकर सिद्ध होने वाले—जैसे जम्बू स्वामी आदि ।

(८) स्त्री लिंग सिद्ध—वेद का क्षय करके जो स्त्री के शरीर से सिद्ध होते है—जैसे मरुदेवी माता आदि ।

(९) पुरुष लिंग सिद्ध—पुरुष शरीर से राग द्वेष का क्षय करके सिद्ध होने वाले जैसे—सुधर्मा स्वामी आदि ।

(१०) नपुंसक लिंग सिद्ध—नपुंसक शरीर से वीतरागता प्राप्त कर सिद्ध होने वाले—जैसे भीष्म आदि ।

(११) स्वलिंग सिद्ध—रजोहरण मुख वस्त्रिका आदि जैन वेश से वीतरागतापूर्वक सिद्ध होने वाले—जैसे जैन साधु ।

(१२) अन्य लिंग सिद्ध—तापस, परिव्राजक आदि के वेश मे वीतरागता पूर्वक सिद्ध होने वाले—जैसे वल्कल चीरी आदि ।

(१३) गृह लिंग सिद्ध—गृहस्थ के वेश मे भावना की प्रबलता से वीतरागता प्राप्त कर सिद्ध होने वाले—जैसे मरुदेवी आदि।

(१४) एक सिद्ध—एक समय म एक सिद्ध होने वाले—जैसे भगवान महावीर स्वामी आदि।

(१५) अनेक सिद्ध—एक समय म २ से लेकर १०८ तक सिद्ध होने वाले—जैसे भगवान ऋषभ देव आदि।

शिष्य—भगवन्! जीव किस काल, क्षेत्र और लिंग से आत्मा मुक्त होता है इस सम्बध मे जैन शास्त्र का क्या विचार है?

गुरुदेव—जैन शास्त्र किसी एक देश-जाति-कुल या वेश म साधना को सीमित नही मानता। जैन धम गुणो को ही अधिक महत्त्व देता ह, उसकी दृष्टि मे सम्यक श्रद्धा और सयम की यथावत् पालना करने वाला कोई भी मानव मुक्त हो सकता है जो इस प्रकार हैं—क्षेत्र, काल, गति, लिंग, तीर्थ, चारित्र, प्रत्येक बुद्ध-बोधित, ज्ञानावगाहनातर, सख्या अल्पबहुत्वत साध्या तत्त्वार्थ १०-३

(१) क्षेत्र की दृष्टि से मुक्त आत्मा उर्ध्वलोक मे पडकवन से, तिर्यक लोक म मनुष्य लोक से और अधो लोक मे महाविदेह की विजय के अधोलोकस्थ स्थानो से सिद्ध होते हैं।

(२) काल की दृष्टि से भरतादि क्षेत्रो मे अवसर्पिणी मे जन्म लेने के तीसर चौथे काल मे जन्मे सिद्धत्व प्राप्ति की अपेक्षा तीसर, चौथे, पाचवें काल म सिद्ध होते ह। महाविदेह म यह मर्यादा नही है।

(३) गति से मनुष्य गति मे ही सिद्ध होते है। अन्य गतियो मे सम्पूर्ण सयम नही होता। अत सिद्ध नही होते ह।

(४) लिंग वर्तमान दशा में अवेदी सिद्ध होते हैं, किसी भी वेद में सिद्ध नही होते, वेद विकार का क्षय होना सिद्धत्व के लिए आवश्यक है। लिंग–जैन शास्त्र के अनुसार द्रव्य लिंग की अपेक्षा–जैन साधु का वेश, परिव्राजक आदि का वेश या गृहस्थ वेश से भी मुक्त हो सकते हैं। भाव लिंग संयम होना ही चाहिये।

(५) तीर्थ—तीर्थ और अतीर्थ दोनों स्थिति में सिद्ध होते हैं।

(६) चारित्र—मोक्ष मार्ग के अधिकारी तो सम्यग् दृष्टि श्रावक और साधु भी होते हैं। पर मुक्त क्षायिक यथाख्यात चारित्री ही होते है।

(७) बुद्ध द्वार में—स्वयं बुद्ध, प्रत्येक बुद्ध, बुद्ध बोधित आदि में से कोई भी ज्ञानी वीतराग भाव की प्राप्ति कर मुक्त हो सकता है।

(८) ज्ञान द्वार—मति ज्ञान, श्रुत ज्ञान भी मोक्ष मार्ग के साधन है पर अनन्तर मोक्ष का साधन केवलज्ञान ही है।

(९) अवगाहन (ऊँचाई)–जघन्य दो हाथ वाले और उत्कृष्ट पाँच सौ धनुष देह वाले सिद्ध होते है।

(१०) अन्तर—निरन्तर आठ समय तक सिद्ध हो सकते है। अन्तर पड़े तो जघन्य दो समय उत्कृष्ट ६ मास का काल है।

(११) संख्या—एक समय में जघन्य एक उत्कृष्ट १०८ सिद्ध होते है।

(१२) अल्प-बहुत्व—सबसे कम नपुसंक लिंग सिद्ध, उनसे स्त्री लिंग सिद्ध संख्यात गुण्य, उनसे पुरुष लिंग सिद्ध संख्यात गुण्य हैं।

शिष्य—भगवन्! मनुष्य लोक में कर्म क्षय कर सिद्ध होने वाले आत्मा कहाँ रहते हैं?

गुरुदेव—अशरीरी होने से सिद्ध को ठहरने के लिए कोई घर की आवश्यकता नहीं होती, सिद्ध आत्मा ऊर्ध्वगति से जाकर ४५ लाख

योजन की सिद्ध शिला पर अलोक से रुक कर ठहर जाते है जैसा कि कहा है—

अलोए पडिहयासिद्धा लोयग्गे पइट्ठिया ॥उ० अ०३६ गा० ५६ ॥

अर्थात् सिद्ध अलोक से रुके हुए लोकाग्र मे स्थित है। सिद्ध शिला जो अर्जुन सुवणमय श्वेत उलटे छत्र की तरह है, वह उपलक्षण से सिद्ध स्थान कहा जाता है। वास्तव मे सिद्ध परमात्मा सिद्ध शिला के अन्तिम कोश के छट्ठे भाग के आकाश मे ज्ञान की ज्योति मे अवस्थित रहते हैं, शास्त्रीय वचन मे भी इसीलिये लोकाग्र प्रतिष्ठित कहा है।

शिष्य—भगवन्' मुक्त आत्माओ का ९ द्वारो से विचार किया, वह किस प्रकार है ?

गुरुदेव—मोक्ष के नव द्वार कहे गये हैं—वे इस प्रकार हैं—

(१) मोक्ष की सत्ता शाश्वत है, सिद्ध चेतना घन है।

(२) द्रव्य से सिद्ध अनन्त है।

(३) काल से एक सिद्ध की अपेक्षा सिद्ध की आदि है, अन्त नही। अनेक सिद्ध की अपेक्षा अनादि अनन्त है।

(४) क्षेत्र से लोक के असख्यातवें भाग मे स्थित हैं।

(५) स्पर्शना—क्षेत्र से स्पर्शना कुछ अधिक है।

(६) अन्तर—सिद्धो का अन्तर नही है। सिद्ध गति मे गये हुए जीव पुन ससार मे नही आते हैं।

(७) भाव—सिद्ध मे केवलज्ञान, केवलदर्शन रूप भाव से क्षायिक भाव और जीवत्व रूप से परिणामिक भाव होते हैं।

(८) भाग—सिद्ध सब जीवों के अनन्तवें भाग और अभव्य से अनन्त गुणा हैं।

(९) अल्प-बहुत्व—सबसे थोड़ा नपुंसक सिद्ध, स्त्री लिंग सिद्ध संख्यात गुण, पुरुष लिंग सिद्ध संख्यात गुण है।

इस प्रकार मुक्त आत्मा अनन्त ज्ञान दर्शन और निराबाध अनन्त आनन्द का अनुभव करते हैं, वहाँ न रोग है, न जरा है, न वेदना है। वे सर्वथा पर सयोग से मुक्त हैं, अतः वियोग का अवकाश ही नहीं है।

यों तो सिद्ध परमात्मा में अनन्त गुण होते हैं, तथापि ज्ञानावरणीय आदि आठ कर्मों के क्षय की अपेक्षा से उनमें ३१ गुण विशेषतया आविर्भूत हो जाते हैं। वस्तुतः आत्मा ज्ञान स्वरूप और अनन्त गुणों का समुदाय रूप है, परन्तु कर्म जन्य उपाधि भेद से ससारी आत्माओं के वे गुण आवरणयुक्त हो रहे हैं।

जैसे सूर्य प्रकाश रूप होने पर भी बादलों के कारण उस पर आवरण आ जाता है। उसका प्रकाशवान रूप हमें दिखाई नहीं देता। इसी प्रकार आत्मा भी प्रकाशमान है, उस पर आये हुए आवरण जब दूर हो जाते हैं, तब वह गुण समुदाय प्रकट हो जाता है, फिर उस पूर्ण शुद्ध आत्मा को सिद्ध, बुद्ध, मुक्त अजर, अमर, सर्वज्ञ सर्वदर्शी और अनन्त शक्ति सम्पन्न इत्यादि शुभ नामों से पुकारा जाता है। वे ३१ गुण इस प्रकार हैं—

(१) सिद्ध परमात्मा के आभिनिबोधिक ज्ञानावरण क्षीण हो चुका है। अर्थात् ज्ञानावरणीय कर्म की पाँच प्रकृतियों में से आभिनिबोधिक ज्ञान के २८ भेद हैं, उन पर छाए हुए कर्म परमाणुओं के आवरणों का क्षय हो चुका है।

(२) श्रुत ज्ञानावरण (श्रुतज्ञान के १४ भेद हैं, उन पर आये हुए आवरण) का क्षय हो चुका है।

(३) अवधि ज्ञान (के ६ भेदो) पर आये हुए आवरण का क्षय हो चुका है।

(४) मन पर्यवज्ञान (के दो भेदो) पर आये हुए आवरण का क्षय हो चुका है।

(५) केवलज्ञान के (केवल एक भेद) पर आये हुए आवरण का भी क्षय हो चुका है।

ज्ञानावरण की पाँचो प्रकृतियो के आवरण क्षीण (दूर) हो जाने से सिद्ध भगवान् को सर्वज्ञ कहा जाता है।

(६) चक्षुदर्शन पर आया हुआ आवरण सिद्ध परमात्मा का क्षय हो चुका है।

(७) चक्षुवर्जित श्रोत्रेन्द्रियादि इन्द्रियो पर आया आवरण (अचक्षु दर्शनावरण) भी क्षय हो चुका।

(८) अवधि दर्शन पर आया हुआ आवरण भी निर्मूल हो गया है।

(९) केवल दर्शनगत आवरण भी क्षीण हो चुका है।

(१०) निद्रा (सुख पूर्वक शयन) रूप दर्शनावरण भी चला गया है।

(११) निद्रा निद्रा (सुखपूर्वक शयन करने के पश्चात दु खपूर्वक जागृत अवस्था) रूप दशा भी जाती रही।

(१२) प्रचला (बैठे-बैठे ही निद्रागत होने रूप) अवस्था भी उनकी नही रही।

(१३) प्रचला-प्रचला (पशु की तरह प्रायः चलते-चलते निद्राधीन हो जाने रूप) दशा भी समाप्त हो गयी है।

(१४) स्त्यानर्द्धि (अत्यन्त घोर निद्रा जिसके उदय से वासुदेव का आधा बल प्राप्त हो जाये, ऐसी अत्यन्त भयंकर निद्रा) दशा भी सिद्ध परमात्मा की नहीं रही।

(१५-१६) सिद्ध भगवान् के वेदनीय कर्म की प्रकृतियाँ साता रूप प्रकृति और असाता रूप प्रकृति क्षीण हो चुकी है, इसलिए वे अक्षय आत्मिक सुख में मग्न है।

(१७-१८) मोहनीय कर्म की दोनों प्रकृतियों—दर्शन मोहनीय और चारित्र मोहनीय के क्षय हो जाने से सिद्ध परमात्मा क्षायिक सम्यक्त्व व चारित्र के धारक हो जाते है।

(१९ से २२) आयुष्य कर्म की चारों प्रकृतियाँ—नरकायु, तिर्यंचायु मनुष्यायु और देवायु के क्षय हो जाने से भगवान् निरायु हैं, अतएव उन्हे शाश्वत कहा जाता है, क्योंकि आयुष्य कर्म के कारण जीव की अशाश्वत दशाएँ होती है।

(२३-२४) गोत्र कर्म की दोनो प्रकृतियाँ—उच्च गोत्र और नीच गोत्र का भी अभाव हो चुका है। गोत्र कर्म के कारण जीव की उच्च-नीच दशा होती रहती है। गोत्र कर्म के न रहने से सिद्ध भगवान् की उच्च-नीच दशा भी समाप्त हो जाती है और वे अगुरु लघु गुण सम्पन्न हो जाते है।

(२५-२६) इसी प्रकार शुभ नाम और अशुभ नाम रूप नाम कर्म की जो दो प्रकृतियां हैं, वे भी समाप्त हो चुकी है ; सादि सान्त रूप नाम कर्म के क्षय हो जाने से सिद्ध भगवन् अनादि अनन्त पद

(४) दो प्रकार के मोहनीय कम का क्षय हो जाने से उन्हें क्षायिक सम्यक्त्व रत्न और वीतराग भाव की प्राप्ति होती है जिससे वे स्व-स्वरूप मे स्थित होत ह।

(५) चारो प्रकार के आयुष्य कर्म का क्षय हो जाने से वे अव्यय (अजर-अमर) हो गये। जव तक आयुष्य कर्म रहता है, तब तक आत्मा की बाल्य, यौवन, वार्द्धक्य, रोगित्व, निरोगित्व आदि दशा की सम्भावना रहती है। जब आयुष्य कर्म के प्रदेश आत्म प्रदशो से सवथा पृथक हो जाते हैं, तव वह आत्मा अव्ययत्व गुण धारक हो जाता है। आयुष्य-कम स्थिति युक्त है। आयुष्य कर्म के प्रदेशो की स्थिति उत्कृष्ट ३३ साग-रोपम होती है। यह कर्म स्थिति युक्त होने से जीव सादि-सान्त पद वाला होता है, किन्तु जब सिद्धो के आयुष्य कम का अभाव हो जाता है, तब वे सादि-अनन्त पद को धारण करते हुए अव्ययत्व गुण के धारक होत ह।

(६) दो प्रकार के नाम कम का क्षय हो जाने से वे अमूर्तिक हुए। नाम कर्म के होने से शरीर, इन्द्रिय, अगोपाग, जाति आदि की रचना होती है। नाम कम वर्ण—गन्ध—रस-स्पश पुद्गल जन्य होता है। जब आयुष्य और नाम कम का क्षय कर दिया तो सिद्ध भगवान् शरीरादि तथा वर्णादि से रहित हो गये। शरीर से रहित आत्मा अमूर्तिक और अरूपी होता ह, क्योकि आत्मा का निज गुण अमूर्तिक है।

(७) गोत्र कर्म का क्षय हो जाने से सिद्ध भगवान् अगुरु लघुत्व-गुण से युक्त हो गये। जब गोत्र कम रहता है, तब उच्च गात्र के कारण नाना प्रकार के गौरव (गुरुता) की प्राप्ति होती है और नीच गोत्र के कारण नाना प्रकार की लघुता (हीनता-

तिरस्कार) का सामना करना पड़ता है। जब गोत्र कर्म ही क्षीण हो गया, तब गुरुता-लघुता (मान-अपमान) नही रहे और सिद्ध भगवान् अगुरुलघुत्व गुण के धारक हो गये।

शिष्य—गुरुदेव यहाँ एक शंका होती है कि "सिद्ध भगवान् भक्तो द्वारा उपास्य और पूज्य है, किन्तु जो नास्तिक है वे तो सिद्ध भगवान् के अस्तित्व में ही शका करते हैं अतः नास्तिकों द्वारा वे उपास्य और पूज्य नही होते, ऐसी स्थिति में सिद्ध भगवान् के प्रति उच्चता-नीचता (गुरुता-लघुता) का भाव आ जाने से उनमें गोत्र कर्म का सद्भाव क्यों नही माना जाये ?"

गुरुदेव इसका समाधान यह है कि गोत्र कर्म की वर्गणाएँ परमाणु रूप हैं, अतः वे पुद्गल जन्य होने से रूपी भाव को धारण करती है और जीव जब तक गोत्र कर्म से युक्त होता, तब तक वह शरीरधारी अवश्य होता है। उस समय गोत्र कर्म द्वारा उस जीव को उच्च या नीच दशा की प्राप्ति होना गोत्र कर्म का फल माना जा सकता है, किन्तु सिद्ध है, अरूपी अमूर्तिक है, और शरीर रहित हैं ऐसी स्थिति में सिद्धों के साथ गोत्र कर्म का सद्भाव न होने से उनमें उच्च-नीच दशा की प्राप्ति कथमपि सम्भव नही है। केवल आस्तिकों या नास्तिकों द्वारा ही पूर्वोक्त क्रियाओं के करने से सिद्धों मे गोत्र कर्म का सद्भाव नही माना जा सकता। अतः सिद्ध-परमात्मा में अगुरुलघुत्व गुण ही मानना चाहिए, जोकि शुद्ध आत्मा का निज गुण है।

(८) पाँच प्रकार के अन्तराय कर्म का क्षय हो जाने से सिद्धो में उक्त प्रकार की अनन्त शक्ति प्रादुर्भूत हो गई। वे अनन्त शक्तिमान हो गये।

अनन्त ज्ञान-दर्शन के द्वारा वे सब पदार्थों हस्तामलकवत् यथा अवस्थित रूप मे जानते है और वे अपने स्वरूप से कदापि स्खलित

नही होते हैं। इसीलिए उन्हें सच्चिदानन्दमय कहा जाता है। जो अक्षय आत्मिक सुख सिद्ध परमात्मा को प्राप्त होता है, वह सुख देवो या चक्रवर्ती आदि विशिष्ट मनुष्यों को बिल्कुल प्राप्त नहीं है। क्योंकि आत्मिक सुख के समक्ष पौद्गलिक सुख कुछ भी नही है। जैसे सूर्य के प्रकाश के साथ दीपक आदि के प्रकाश की तुलना नहीं की जा सकती, उसी प्रकार सिद्धो के सुख के समक्ष अन्य सुख क्षुद्रतम प्रतीत होते हैं। इसीलिए उत्तराध्ययन मे कहा है कि वे अरूप है, सघन हैं (अनन्त) ज्ञान-दर्शन सम्पन्न हैं, जिसकी कोई उपमा नही है, ऐसा अतुल सुख उन्हे प्राप्त है।

शिष्य—भगवन्! आत्माएँ किस शरीर के परिमाण से मुक्त होते हैं उनका शरीर छोटा होता है या बडा?

गुरुदेव—आत्मा छ प्रकार के सस्थानो मे से "वामन" कुब्ज आदि से भी सिद्ध हो सकती है, छोटे से छोटे शरीर २ हाथ के भी सिद्ध होते हैं, कूर्मा पुत्र की तरह। बडे मे ५०० धनुष शरीर वाले भी सिद्ध होते हैं।

शिष्य—भगवन्! कुछ आचार्य स्त्री के लिऐ मोक्ष नहीं मानते, क्योकि उसका शरीर अल्प पुरुषार्थ वाला और अशुचि पिंड माना जाता है, फिर वह पुरुषों की तरह वस्त्र त्याग नहीं कर सकती, अत उसका मोक्ष नहीं होता, यह कहाँ तक ठीक है?

गुरुदेव—पुरुष के समान स्त्रियो का साध्वी सघ और श्राविका सघ मे स्थान है। सत्य, शील और सन्तोष की आराधना मे वे पुरुष से कम नही हैं। पति के पीछे या शील की रक्षा के लिए हँसते-हँसते प्राण देने का साहस करने वाली नारियां कम नही है। अत केवल वस्त्र त्याग नही करने मात्र से उनको मुक्ति की अनधिकारिणी

मानना उचित नहीं कहा जा सकता। वस्त्र तो एक बाह्य उपधि है। शरीर की तरह वस्त्र-पात्र आदि धर्मोपकरणों को मूर्छा रहित होकर केवल साधन रूप में ही उपयोग किया जाय तो वह परिग्रह नही होता, क्योंकि—"मुच्छापरिग्गहोवुत्तो" इस शास्त्र वचन के अनुसार मूर्छाभाव ही परिग्रह है उसका त्याग स्त्री भी कर सकती है। अतः स्त्री के लिये मुक्ति का निषेध करना वस्तु तत्त्व न्यायोचित नही कहा जा सकता।

दिगम्बर परम्परा के षटखंडागम में स्पष्ट कहा गया है कि मनुष्यनियों में सास्वादन सम्यग्दृष्टि गुणस्थान से लेकर अयोगि केवली गुणस्थान तक प्रत्येक गुणस्थानवर्ती जीव द्रव्य प्रमाण से कितने है? संख्यात है। षटखंडा० १/२/४६। इसके पाठक भलीभांति समझ सकते है कि जिनशासन में धर्म करणीकर मुक्ति प्राप्त करने के लिए स्त्री-पुरुष का कोई भेद नही है। उत्तराध्ययन सूत्र के अध्ययन ३६ मे स्पष्ट कहा है कि—

इत्थीपुरिससिद्धा य, तहेव य नपुंसगा।
सलिंगे अण्णलिंगे य, गिहिलिंगे तहेव य।५०।
दस य नंपुसएसु, वीसं इत्थियासु य।
पुरिसेसुय अट्ठसयं, समएणेगेण सिज्झई।५२।

स्त्री पुरुष और नपुंसक तन से सिद्ध होते ऐसे स्वलिंग, अन्यलिंग और गृहलिंग में भी सिद्ध होना माना गया है। एक समय में कौन कितने सिद्ध होते इसका उल्लेख करते कहा है—नपुंसक मे १०, स्त्रीलिंग से २० और पुरुष लिंग में १०८ सिद्ध होते है। इस प्रकार स्त्री का सिद्ध होना शास्त्र सम्मत है।

